परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहर-सिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महा-रावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्य-कुमारीजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की

विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव शाहपुरा के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रकाशमान है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहु आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउम्मेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन ब(विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इत.., अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

प्रथम संस्करण का

वक्तव्य

हिंदी कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ ई० में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् १८८६ में डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि-वृत्त संग्रह निकाला। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकें देश के अनेक भागों में राज पुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् १९०० से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् १९१३ में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओं (श्रीयुत पं० श्यामबिहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कवि वृत्त संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद', जिसमें वर्त्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया, तीन भागों में प्रकाशित किया।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखला बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के

स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिसके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

पाँच या छः वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिये मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी-साहित्य के इतिहास के काल विभाग और रचना की भिन्न भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी-शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रखकर यह कार्य्य पूरा किया गया।

इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है उसका थोड़े में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

पहले काल विभाग को लीजिए। जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढँग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढँग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढँग की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी, यह नहीं कि और सब ढगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे, यदि किसी काल में पाँच ढँग की रचनाएँ १०, ५, ६, ७ और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढग की रचना की १० पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता कही जायगी यद्यपि शेष और ढँग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढँग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढँग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे दूसरे ढँग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया गया है।

आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश की और देश-भाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण संबंधी हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य कोटि में आनेवाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं

जिनके अनुसार इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं—

१ विजयपाल रासो
२ हम्मीर रासो
३ कीर्तिलता
४ कीर्तिपताका

देशभाषा-काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—

५ खुमान रासो
६ बीसलदेव रासो
७ पृथ्वीराज रासो
८ जयचंद प्रकाश
९ जयमयंक-जस-चंद्रिका
१० परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप)
११ खुसरो की पहेलियाँ आदि
१२ विद्यापति-पदावली

इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़ शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः 'आदिकाल' का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है। जिस सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति की प्रेरणा से वीरगाथाओं की प्रवृत्ति रही है उसका सम्यक् निरूपण पुस्तक में कर दिया गया है।

मिश्रबंधुओं ने इस 'आदिकाल' के भीतर इतनी पुस्तकों की और नामावली दी है—

१ भगवद्गीता
२ वृद्ध नवकार
३ वर्तमान

४ नयतसार
५ पचंस
६ अनन्य योग
७ जम्बूस्वामी रासा
८ रैवतगिरि रासा
९ नेमिनाथ चउपई
१० उवएसमाला (उपदेशमाला)

इनमें से न० १ तो पीछे की रचना है, जैसा कि उसकी इस भाषा से स्पष्ट है—

जेहि दिन भयो श्रौन म । सार । हरि के नाम लीन सिर आई ॥
सुमिरौं गुरु गोविंद के पाऊँ । अगम अपार है जाकर नाऊँ ॥

जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर ही प्राकृत भाषा, और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को Thought और विचार को Feeling कहते हैं, वे यदि उद्धृत पद्यों को सवत् १००० के क्या सवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की सवत् सूचक पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिये काफ़ी है—"सहस्र सो सपूरन जाना"।

अब रहीं शेष नौ पुस्तकें। उनमें न० २, ७, ९ और १० जैनधर्म के तत्त्व निरूपण पर हैं और साहित्य कोटि में नहीं आ सकतीं। न० ६ योग की पुस्तक है। न० ३ और ४ केवल नोटिस मात्र हैं, विषयों का कुछ भी विवरण नहीं है। इस प्रकार केवल दो साहित्यिक पुस्तकें बचीं जो वर्णनात्मक (Descriptive) हैं—एक में नद के ज्योनार का वर्णन है, दूसरी में गुजरात के रैवतक पर्वत का। अत इन पुस्तकों की नामावली से मेरे निश्चय में किसी प्रकार का अतर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की ९ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नामकरण में कोई

बाधा नहीं डाल सकती थी; क्योंकि मैंने ९ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ अलग अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ—निर्गुण धारा और सगुण धारा—निर्दिष्ट की गई हैं। फिर प्रत्येक धारा की दो दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई हैं—निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफी) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखा। इन धाराओं और शाखाओं की प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढंग पर नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करनेवाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखाई भी गई हैं और देखते ही ध्यान में आ भी जाएँगी।

रीति-काल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग अलग लक्षण न बताए जाएँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े थोड़े अंतर पर होनेवाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होनेवाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए। रीतिबद्ध ग्रंथों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।

रीति-काल के संबंध में दो बातें और कहनी हैं। इस काल के कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मैं अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्त्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबंधु विनोद से ही लिए हैं। कहीं कहीं कुछ कवियों के विवरणों में परिवर्द्धन और परिष्कार भी किया है, जैसे, ठाकुर, दीनदयाल गिरि, रामसहाय और रसिक गोविंद के विवरणों में। यदि कुछ कवियों के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इससे मेरी कोई बड़ी उद्देश्य-हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैंने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रंथों के नाम दिए हैं उतने ही जरूरत से ज्याद. मालूम हो रहे हैं।

रीतिकाल या और किसी काल के कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के संबंध में मैंने जो कुछ संक्षिप्त विचार प्रकट किए हैं वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप में लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियों के संबंध में ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पड़ा है। पर वहाँ भी विशेष विशेष प्रवृत्तियों का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमें से कुछ प्रवृत्तियों को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है इसलिये उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ करना पड़ा है। इस थोड़े से काल के बीच में हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक लाकर, उसके

धारा की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही, छोड़ देने का था; क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियों के संबंध में कुछ लिखना अपने सिर एक बखेड़ा मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते डरते किया गया।

वर्तमान काल के अनेक प्रतिभा-संपन्न और प्रभावशाली लेखकों और कवियों के नाम जल्दी में या भूल से छूट गए होंगे। इसके लिये उनसे तथा उनसे भी अधिक उनकी कृतियों से विशेष रूप में परिचित महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है। जैसा पहले कहा जा चुका है यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है इससे इसको जो रूप मैं देना चाहता था वह भी इसे पूरा पूरा नहीं प्राप्त हो सका है। कवियों और लेखकों के नामोल्लेख के संबंध में एक बात का निवेदन और है। इस पुस्तक का उद्देश्य [illegible] नहीं था। इससे आधुनिक काल के अंतर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियों के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। अगले संस्करण में इस काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य का यह इतिहास 'हिंदी-शब्द सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् १९२९ के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं—विशेषतः आदि और अंत में। 'आदि काल' के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि-परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आई है जो अपभ्रंश में हैं—जैसे, कुमारपालचरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीररासो। 'हम्मीर रासो' का पता नहीं है। पर प्राकृत-पिंगल-सूत्र उलटते पलटते मुझे हम्मीर के युद्धों के वर्णनवाले कई बहुत ही ओजस्वी पद्य छंदों

के उदाहरण में, मिले। मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि ये पद्य शार्ङ्गधर के प्रसिद्ध 'हम्मीररासो' के ही हैं।

आधुनिक काल के अंत में वर्त्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के वर्णन को थोड़ा और पल्लवित इसलिये करना पड़ा जिसमें उन प्रवृत्तियों के मूल का ठीक ठीक पता केवल हिंदी पढ़नेवालों को भी हो जाय और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हों।

मिश्रबंधुओं के प्रकांड कविवृत्त संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रंथ से ही विवरण लिए हैं अतः आधुनिक शिष्टता के अनुसार उसके उत्साही और परिश्रमी संकलन-कर्त्ताओं को धन्यवाद देना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। हिंदी पुस्तकों की खोज की रिपोर्टें भी मुझे समय समय पर—विशेषतः संदेह के स्थल आने पर—उलटनी पड़ी हैं। राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० की 'हिंदी कोविद रत्नमाला', श्रीयुत पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा श्रीवियोगी हरिजी के 'ब्रजमाधुरी सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है अतः उक्त तीनों महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिक काल' के प्रारंभिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना पड़ा उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं० केदारनाथ पाठक ही काम आए। पर न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिये धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे "आजकल की एक बदमाशी" समझते हैं।

इस कार्य्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनकी पूर्त्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोष लाभ कर सकता हूँ।

काशी
आषाढ कृष्ण ५, १९८६ } रामचंद्र शुक्ल

——

संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण के संबंध में

दो बातें

कई संस्करणों के उपरांत इस पुस्तक के परिमार्जन का पहला अवसर मिला। इससे इसमें कुछ आवश्यक संशोधन के अतिरिक्त बहुत सी बातें बढ़ानी पड़ीं।

आदिकाल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिये करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण संत-मत के प्रचार के लिये किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योग-धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।

'भक्ति-काल' के अंतर्गत स्वामी रामानंद और नामदेव पर विशेष रूप से विचार किया गया है क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं।

'रीति काल' के 'सामान्य परिचय' में हिंदी के अलंकार ग्रंथों की परंपरा का उद्गम और विकास कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गया है। पद्माकर आदि कुछ मुख्य मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप में मिलेगा।

'आधुनिक काल' के भीतर खड़ी बोली के गद्य का इतिहास इधर जो कुछ सामग्री मिली है उसकी दृष्टि से एक नए रूप में सामने लाया गया है। हिंदी के मार्ग में जो जो विघ्नबाधाएँ

पड़ी हैं उनका भी सविस्तर उल्लेख है। पिछले संस्करणों में वर्त्तमान अर्थात् आजकल चलते हुए साहित्य की मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। इस संस्करण में सम-सामयिक साहित्य का अब तक का आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे आज तक के साहित्य की गति-विधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।

आशा है कि इस संशोधित और प्रवर्द्धित रूप में यह इतिहास विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

अक्षय तृतीया
संवत् १९९७

रामचंद्र शुक्ल

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक का यह नवीन संस्करण इसके विद्वान् लेखक द्वारा संशोधित और प्रवर्धित रूप में पाठकों की सेवा में उपस्थित है। लेखक तथा प्रकाशक ने इसकी अनुदिन बढ़ती हुई माँग को देखकर इसे शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करने का घोर प्रयत्न किया किंतु जिस रूप में इसको निकालने का विचार था वह अत्यंत श्रमसाध्य होने के कारण समय पर न निकल सका जिससे पाठकों विशेषकर परीक्षार्थियों, को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। पर पाठकों की सुविधा को सर्वोपरि रखते हुए हमें प्रस्तुत रूप में पुस्तक को प्रकाशित करना पड़ रहा है। लेखक को कुछ नवीन ध्वनियों और लेखकों के विषय में लिखना अभी शेष था। इसके लिये हम क्षम्य हैं। अगले संस्करण में उसकी पूर्ति अवश्य कर दी जायगी।

प्रधान मंत्री
काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

लेखक का अचानक देहावसान हो जाने से नई धारा के कई नये मान्य कवियों का विवेचन विस्तृत रूप में नहीं प्राप्त हो सका। अतएव पंचम संस्करण में जो संक्षिप्त विवेचन छापा गया था वही इस ग्रंथ में, पृष्ठ ८०५ के अंतिम अनुच्छेद से लेकर पृष्ठ ८०९ तक उद्धृत कर दिया गया है।

कृष्णाष्टमी संवत् १९९९

विषय-सूची

(दिए हुए अंक पृष्ठों के हैं)

काल-विभाग

आदि काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

अपभ्रंश काल

प्रकरण ३

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

पूर्व-मध्यकाल

(भक्ति काल १३७५-१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति-शाखा

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति-शाखा

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

उत्तर मध्यकाल

(रीतिकाल १७००–१९००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल

(संवत् १९०० १९८०)

गद्य खंड

प्रकरण १

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(ब्रजभाषा-गद्य)

(खड़ी बोली-गद्य)

रूप में इसका महत्त्व ४४९ ; इसके स्वाभाविक रूप की मुसलमानी दरबारी रूप—उर्दू—से भिन्नता ४४९-५ ; गद्य-साहित्य में इसके प्रादुर्भाव और व्यापकता का कारण ४५-५१ ; जान गिलक्राइस्ट द्वारा इसके स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति, ४५१ ; इसके गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले चार प्रमुख लेखक —(१) मुंशी सदासुखलाल और उनकी भाषा ४५१ ; (२) इंशा अल्ला खाँ और उनकी भाषा ४५३ ; (३) लल्लूलाल और उनकी भाषा ४५६ ; सदासुखलाल की भाषा से इनकी भाषा की भिन्नता, ४५७ (४) सदल मिश्र और उनकी भाषा ४५९ ; लल्लूलाल की भाषा से इनकी भाषा की भिन्नता ४५९ ; इन चारों लेखकों की भाषा का तुलनात्मक महत्त्व ४६ ; हिंदी में गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रारंभ ४६ ; इस गद्य के प्रसार में ईसाइयों का योग, ४६१-६२ ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा का रूप ४६१-६२ ; मिशन सोसाइटियों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की हिंदी ४६३ ; ब्रह्म-समाज की स्थापना ४६५ राजा राममोहन राय के वेदांत-भाष्य अनुवाद की हिंदी ४६५ ; उदंत मार्तंड पत्र की भाषा ४६६ ; अँगरेजी-शिक्षा-प्रसार, ४६७ ; सं० १८९ के पूर्व की अदालती भाषा ४६८ ; अदालतों में हिंदी-प्रवेश और उसका निष्कासन, ४६८-६९ उर्दू प्रसार के कारण ४७ काशी और आगरे के समाचार-पत्रों की भाषा ४७ शिक्षा-क्रम में हिंदी प्रवेश का विरोध ४७२ ; हिंदी-उर्दू के संबंध में गार्सां द तासी का मत, ४७३ ।

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

हिंदी के प्रति मुसलमान अधिकारियों के भाव ४७६ शिक्षोपयोगी हिंदी पुस्तकें ४७७ राजा शिवप्रसाद की भाषा ४ ८-८ राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवादों की भाषा ४८०-८१ ; [illegible] का

आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

प्रथम उत्थान

(सं० १९२५ ५०)

प्रकरण ३

गद्य-साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

(१९५०-७५)

सामान्य परिचय

गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से)

आधुनिक काल

(सं० १९०० से ...)

काव्य खंड

प्रकरण १

पुरानी धारा

प्रकरण २

नई धारा

प्रथम उत्थान

(सं० १९२५-५०)

द्वितीय उत्थान

(सं० १९५०-७५)

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से ..)

वर्त्तमान काव्य-धाराएँ

सामान्य परिचय

हिंदी-साहित्य का इतिहास

काल-विभाग

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदि काल (वीरगाथा-काल, संवत् १०५०—१३७५)

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५—१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००—१९००)

आधुनिक काल (गद्यकाल, १९००—१९८४)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीररस के भी अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढँग की होगी जिस ढँग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रणाली पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख होगा।

आदि काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। यद्यपि जनश्रुति इस काल का आरंभ और पीछे ले जाती है और संवत् ७७० में भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बंदीजन का दोहों में एक अलंकार-ग्रंथ लिखना बताती है (दे० शिवसिंहसरोज) पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आदि काल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म नीति शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध-परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा-काल कहा है।

दूसरी बात इस आदि काल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिंदी है। इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य-परंपरा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं (जैसे पीछे की हिंदी में तत्सम संस्कृत शब्द लिए जाने लगे), विभक्तियाँ कारकचिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर बिलकुल जिस रूप में आ गई थी सारा वही रूप न लेकर कवि चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परंपरा रखती चली आती थी।

अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं वे उस काव्यभाषा के हैं जो अपने पुरानेपन के कारण बोलने की भाषा से कुछ अलग बहुत दिनों तक—आदि काल के अंत क्या उसके कुछ पीछे तक—पोथियों में चलती रही। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में एक ओर तो पुरानी परंपरा के कोई कवि—संभवतः शार्ङ्गधर—हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे—

> चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
> दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥

दूसरी ओर खुसरो मियाँ दिल्ली में बैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे—

> एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥

इसी प्रकार १५वीं शताब्दी में एक ओर तो विद्यापति बोलचाल की मैथिली के अतिरिक्त इस प्रकार की प्राकृताभास पुरानी काव्य-भाषा भी भनते रहे—

> बालचंद बिज्जावइ भासा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन-हासा।

और दूसरी ओर कबीरदास अपनी अटपटी बानी इस बोली में सुना रहे थे—

> अगिन जो लागी नीर में कंदो जलिया झारि।
> उत्तर दषिण के पंडिता रहे बिचारि बिचारि॥

सारांश यह कि अपभ्रंश की यह परंपरा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है—पुरानी अपभ्रंश भाषा का और बोलचाल की देशी भाषा का। इन दोनों भाषाओं का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है—

> देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
> तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥

अर्थात् देसी भाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मैं कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न प्रचलित बोलचाल की भाषा को "देशी भाषा" कहा है अतः हम भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं कहीं आवश्यकतानुसार करेंगे। इस आदि काल के प्रकरण में पहले हम अपभ्रंश की रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करके तब देशभाषा की रचनाओं का वर्णन करेंगे।

प्रकरण २

अपभ्रंश काल

जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश-साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही पीछे 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या लोक-प्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा। इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा में नीति, शृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिये भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य-रचना के लिये रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

भरत मुनि (विक्रम तीसरी शती) ने 'अपभ्रंश' नाम न देकर लोकभाषा को 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' में भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। 'अपभ्रंश' नाम पहले पहल वलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि० स० ६५० के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। भामह (विक्रम ७वीं

हजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।

बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक-शक्ति संपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिये प्रसिद्ध थे। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में भैरवानंद के नाम से एक ऐसे ही सिद्ध योगी का समावेश किया है। इस प्रकार जनता पर इन सिद्ध योगियों का प्रभाव विक्रम की १०वीं शती से ही पाया जाता है, जो मुसलमानों के आने पर पठानों के समय तक कुछ न कुछ बना रहा। बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने इन दोनों स्थानों को जब उजाड़ा तब ये तितर-बितर हो गए। बहुत से भोट आदि अन्य देशों को चले गए।

चौरासी सिद्धों के नाम ये हैं—लूहीपा, लीलापा, बिरूपा, डोंभिपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोंभीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा इंद्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, कमरिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चँवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा,

सर्वभक्षपा नागबोधिपा दारिकपा पुतुलिपा पनहपा कोकालिपा अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुदपा भलिपा।

('पा' आदरार्थक 'पाद' शब्द है। इस सूची के नाम पूर्वापर कालानुक्रम से नहीं हैं। इनमें से कई एक समसामयिक थे।)

वज्रयान शाखा में जो योगी 'सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए वे अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे। इससे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंश-मिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा में भी बराबर सुनाते रहे। उनकी रचनाओं का एक संग्रह पहले म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अक्षरों में "बौद्ध गान ओ दोहा" के नाम से निकाला था। पीछे त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायनजी भोट देश में जाकर सिद्धों की और बहुत सी रचनाएँ लाए। सिद्धों में सबसे पुराने 'सरह' (सरोजवज्र भी नाम है) हैं जिनका काल डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य* ने विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है। उनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

पाखंड और पंडितों को फटकार—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।

अहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेश।
तहि वट चित्त विसाम कर सरहे कहिअ उवेस।
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥
जीवन्तह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ सो पर धण्णा होइ॥

---

* Buddhist Esoterism.

दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग-ग्रहण का उपदेश—

नाद न बिंदु न रवि न शशि डल। चिश्रराश्र सहावे मूकल।
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे वंक। निश्रहि बोहि मा जाहु रे लंक॥

लूहिपा या लूइपा (संवत् ८३० के आसपास) के गीतों से कुछ उद्धरण—

काश्रा तरुवर पंच विड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिश्र महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिश्र जाण।

भाव न होइ, अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिश्राइ?
लूइ भणइ बट दुलक्ख विणाण। तिश्र धाए विलसइ, उह लागे णा।

विरूपा (संवत् ९०० के लगभग) की वारुणी-प्रेरित अंतर्मुख साधना की पद्धति देखिए—

सहजे थिर करि वारुणी साध। जे अजरामर होइ दिट काँध।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ। आइल गराहक अपणे वहिआ।
चउशठि घड़िए देट पसारा। पइठल गराहक नाहि निसारा।

कण्हपा (सं० ९०० के उपरांत) की बानी के कुछ खंड नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

एक ण किज्जइ मंत्र ण तंत। णिश्र घरणी लइ केलि करंत।
णिश्र घर घरिणी जाम ण मज्जइ। ताब कि पंचवर्ण विहरिज्जइ।
जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिमि घरिणी लइ चित्त।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त॥

वज्रयानियों की योग तंत्र-साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषत. डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था। सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान-गीत इस प्रकार गाते हैं—

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाह्म नाड़िया।

दिवसइ बहुड़ी काढ़इ डरे भाग्र ।
राति भइले कामरू जाग्र ॥

रहस्य मार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप में भी रखते थे जिसे कोई विरला ही बूझ सकता है। सिद्ध तांतिपा की अटपटी बानी सुनिए।

वेंग ससार बाड़हिल जाग्र । दुहिल दूध कि वेंटे समाग्र ।
बलद विग्राएल गविग्रा बाँझे । पिटा दुहिए पतिना साँझे ।

जो सो बुज्झी सो धनि बुधी ।
जो सो चोर सोइ साधी ।
निते निते पिग्राला पिहे षम जूझग्र ।
ढेंढपाएर गीत बिरले बूझग्र ॥

बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्त्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। वज्रयान में आकर 'महा-सुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख-दशा की प्राप्ति मानी गई। इसे आनद-स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए। निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए—शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् में तो ब्रह्मानद के सुख के परिमाण का अदाज़ा कराने के लिये उसे सहवास-सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया। शक्तियो सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्त्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान स्थान पर होने लगे। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिये किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या

सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में—किया। पंजाब में नमक के पहाड़ों के बीच बालनाथ जोगी का स्थान बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। जायसी की पदमावत में "बाल नाथ का टीला"[1] आया है।

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नहीं। राहुल सांकृत्यायनजी ने वज्रयानी सिद्धों की परंपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी आता है। उनका आधार वज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक 'रत्नाकर जोपम कथा' है जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येंद्रनाथ कामरूप के मछुवारे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धों की अपनी सूची में सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येंद्र को जालंधर का शिष्य लिखा है जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) थे यह तो प्रसिद्ध ही है। सांकृत्यायनजी ने मीननाथ या मीनपा को पालवंशी राजा देवपाल के समय में अर्थात् संवत् ९ के आसपास माना है। यह समय उन्होंने किस आधार पर स्थिर किया पता नहीं। यदि सिद्धों की उक्त पुस्तक में मीनपा के राजा देवपाल के समय में होने का उल्लेख होता तो वे उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते। चौरासी सिद्धों के नामों में हेर-फेर होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्षपा और चौरंगी-पा के नाम पीछे से जुड़ गए हों और मीनपा से मत्स्येंद्र का नाम-साम्य के अतिरिक्त कोई संबंध न हो। ब्रह्मानंद ने दोनों को बिलकुल अलग माना भी है Saraswati Bhavan Studies। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की नामावली में और सब सिद्धों की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १० वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।

महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय (संवत् १३५८) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।

इस महाराष्ट्र-परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के पीछे आता है। नाथ-परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने जाते हैं। भोट के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदिनाथ कहे गए हैं। सब बातों का विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा और स्थानों में रमते रहे। पंजाब का जलंधर शहर उन्हीं का स्मारक जान पड़ता है। नाथ संप्रदाय के किसी ग्रंथ में जलंधर को बालनाथ भी कहा है। नमक के पहाड़ों के बीच 'बालनाथ का टीला' बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। मत्स्येंद्र जलंधर के शिष्य थे, नाथपंथियों की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। मीनपा के गुरु चर्पटीनाथ हो सकते हैं, पर मत्स्येंद्र के गुरु जलंधर ही थे। राहुल सांकृत्यायन जी ने गोरख का जो समय स्थिर किया है, वह मीनपा को राजा देवपाल का सम-सामयिक और मत्स्येंद्र का पिता मानकर। मत्स्येंद्र का मीनपा से कोई संबंध न रहने पर उक्त समय मानने का कोई आधार नहीं रह जाता और पृथ्वीराज के समय के आसपास ही—विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।

जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते हैं। 'गोरक्षसिद्धांत-संग्रह' में मार्ग-प्रवर्त्तकों के ये नाम गिनाए गए हैं—

नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन।

विषम आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय देश के पूरबी भागों में (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।

वामाचारियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे जैसे—

भवणा अवतर पंच बिकल

(पंच बिकाल = बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा काम विचिकित्सा और मोह। ध्यान देने की बात यह है कि विकारों की यही पाँच संख्या निर्गुण धारा के संतों और हिंदी के सूफी कवियों में भी। हिंदू शास्त्रों में विकारों की वैसी संख्या ६ है।)

गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई।

(= इड़ा पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा)

इसी से ये अपनी बानियों की भाषा को "संध्याभाषा" कहते थे।*

ऊपर उद्धृत थोड़े से वचनों से ही इसका पता लग सकता है कि इन सिद्धों द्वारा किस प्रकार के संस्कार जनता में इधर उधर बिखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों पर से हटाकर अंतर्मुख साधनाओं के योगियों पर जमाने का प्रयत्न 'सरह' के इस वचन 'घर में ही बुद्ध है यह नहीं जानता आवागमन को भी खंडित नहीं किया तो भी निर्लज्ज कहता है कि मैं पंडित हूँ' स्पष्ट झलकता है। यहाँ पर यह समझ रखना चाहिए कि योगमार्गी बौद्धों ने ईश्वरत्व की भावना कर ली थी—

---

* Buddhist Esoterism
Dr Benoytosh Bhattacharya

प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जित प्रभु ।
सर्वग सर्वव्यापी च कर्त्ता हर्त्ता जगत्पति ।
श्रीमान् वज्रसत्त्वोऽसौ व्यक्तभाव प्रकाशक ।
—व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि
(दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिंता कृत)

इसी प्रकार जहाँ रवि, शशि, पवन आदि की गति नहीं वहाँ चित्त को विश्राम कराने का दावा, 'ऋजु' (सीधे, दक्षिण) मार्ग छोड़कर 'वंक' (टेढ़ा, वाम) मार्ग ग्रहण करने का उपदेश भी है। सिद्ध कण्हपा कहते हैं कि 'जब तक अपनी गृहिणी का उपभोग न करेगा तब तक पचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या करेगा ?'। वज्रयान में 'महासुह' (महासुख) वह दशा बतलाई गई है जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिये 'युगनद्ध' (स्त्री पुरुष का आलिंगन-बद्ध जोड़ा) की भावना की गई। कण्हपा का यह वचन कि "जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित्त", इसी सिद्धात का द्योतक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कौल, कापालिक आदि इन्हीं वज्रयानियों से निकले। कैसा ही शुद्ध और सात्त्विक धर्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाषडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।

गोरखनाथ के नाथपथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिंदूशाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृगारमयी वाणी भी नाथपथ के किसी किसी ग्रथ (जैसे, शक्तिसगम तत्र) में मिलती है। गोरख ने पतजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्ति, को लेकर हठयोग का प्रवर्त्तन किया। वज्रयानी

सिद्धों का लीला क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पच्छिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में—किया। पंजाब में नमक के पहाड़ों के बीच बालनाथ योगी का स्थान बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। जायसी की पदमावत में "बालनाथ का टीला" आया है।

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नहीं। राहुल सांकृत्यायनजी ने वज्रयानी सिद्धों की परंपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी आता है। उनका आधार वज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक 'रत्नाकर जोपम कथा' है जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येंद्रनाथ कामरूप के मछुवे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धों की अपनी सूची में सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येंद्र को जालंधर का शिष्य लिखा है जो अधिक प्रसिद्ध बात है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) थे यह तो प्रसिद्ध ही है। सांकृत्यायनजी ने मीननाथ या मीनपा को पालवंशी राजा देवपाल के समय में अर्थात् संवत् ९ के आसपास माना है। यह समय उन्होंने किस आधार पर स्थिर किया पता नहीं। यदि सिद्धों की उक्त पुस्तक में मीनपा के राजा देवपाल के समय में होने का उल्लेख होता तो वे उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते। चौरासी सिद्धों के नामों में हेर-फेर होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्षपा और चौरंगी-पा के नाम पीछे से जुड़ गए हों और मीनपा से मत्स्येंद्र का नाम-साम्य के अतिरिक्त कोई संबंध न हो। ब्रह्मानंद ने दोनों को बिल्कुल अलग माना भी है Saraswati Bhavan Studies। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की नामावली में और सब सिद्धों की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १ वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।

महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय (संवत् १३५८) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।

इस महाराष्ट्र-परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के पीछे आता है। नाथ-परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने जाते हैं। भोट के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदिनाथ कहे गए हैं। सब बातों का विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा और स्थानों में रमते रहे। पंजाब का जलंधर शहर उन्हीं का स्मारक जान पड़ता है। नाथ संप्रदाय के किसी ग्रंथ में जलंधर को बालनाथ भी कहा है। नमक के पहाडों के बीच 'बालनाथ का टीला' बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। मत्स्येंद्र जलंधर के शिष्य थे, नाथपंथियों की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। मीनपा के गुरु चर्पटीनाथ हो सकते हैं, पर मत्स्येंद्र के गुरु जलंधर ही थे। सांकृत्यायन जी ने गोरख का जो समय स्थिर किया है, वह मीनपा को राजा देवपाल का सम-सामयिक और मत्स्येंद्र का पिता मानकर। मत्स्येंद्र का मीनपा से कोई संबंध न रहने पर उक्त समय मानने का कोई आधार नहीं रह जाता और पृथ्वीराज के समय के आसपास ही—विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ होता है।

जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते हैं। 'गोरक्षसिद्धांत-संग्रह' में मार्ग-प्रवर्त्तकों के ये नाम गिनाए गए हैं—

नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन।

इन नामों में नागार्जुन, चर्पट और जलंधर सिद्धों की परंपरा में भी हैं। नागार्जुन (सं० ७०२) प्रसिद्ध रसायनी भी थे। नाथपंथ में रसायन की सिद्धि है। नाथपंथ सिद्धों की परंपरा से ही छँटकर निकला है इसमें कोई संदेह नहीं।

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि महमूद गजनवी के भी कुछ पहले सिंध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखीं, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १० वीं शताब्दी में हुए हों चाहे ११वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है। क्योंकि जैसा कहा जा चुका है उन्होंने अपने पंथ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।

इतिहास और जनश्रुति से इस बात का पता लगता है कि सूफी फकीरों और पीरों के द्वारा इस्लाम को जनप्रिय बनाने का उद्योग भारत में बहुत दिनों तक चलता रहा। पृथ्वीराज के पिता के समय में ख्वाजा मुईनुद्दीन के अजमेर आने और अपनी सिद्धि का प्रभाव दिखाने के गीत मुसलमानों में अब तक पाए जाते हैं। चमत्कारों पर विश्वास करनेवाली भोली-भाली जनता के बीच अपना प्रभाव फैलाने में इन पीरों और फकीरों को सिद्धों और योगियों से मुकाबला करना पड़ा जिनका प्रभाव पहले से जमा चला आ रहा था। भारतीय मुसलमानों के बीच विशेषतः सूफियों की परंपरा में ऐसी अनेक कहानियाँ चलीं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात में पछाड़ दिया। कई योगियों के साथ ख्वाजा मुईनुद्दीन का भी ऐसा ही करामाती दंगल कहा जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अतः उसमें मुसलमानों के लिये भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के

लिये एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी। उसमें मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अत उन्होंने दोनों के विद्वेष-भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकलने की सभावना समझी थी और वे उसका सस्कार अपनी शिष्य परपरा में छोड़ गए थे। नाथ-सप्रदाय के सिद्धांत-ग्रथों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं।

१ योगशास्त्र पठेन्नित्य किमन्यै शास्त्र विस्तरै।
२ न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते॥
न सन्ध्या सन्धिरित्याहु सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते।
सुषुम्णा-सन्धिग प्राण सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते॥

अतस्साधना के वर्णन में हृदय दर्पण कहा गया है जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब पड़ता है—

३ हृदय दर्पण यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूप सुनिश्चितम्।

परमात्मा की अनिर्वचनीयता इस ढग से बताई गई है—

शिव न जानामि कथ वदामि। शिव च जानामि कथ वदामि॥

इसके सबध में सिद्ध लूहिपा भी कह गए हैं—

भाव न होइ, अभाव न होइ। अइस सबोहे को पतिआइ?

'नाद' और 'बिंदु' भावनाएँ वज्रयानी सिद्धों में बराबर चलती रहीं। गोरख-सिद्धांत में उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

नाथांशो नादो, नादांश प्राण, शक्त्यंशो बिन्दुर्बिन्दोरंश शरीरम्।

—गोरक्षसिद्धांतसग्रह
(गोपीनाथ कविराज सपादित)

'नाद' और 'बिंदु' के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनों मानते थे।

तीर्थाटन के संबंध में जो भाव सिद्धों का था वही हठयोगियों का भी रहा। 'चित्तशोधनप्रकरण' में वज्रयानी सिद्ध आर्यदेव (कर्णरीपा) का वचन है—

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता।
नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥

जनता के बीच इस प्रकार के भाव क्रमशः ऐसे गीतों के रूप में निर्गुणपंथी संतों द्वारा आगे भी बराबर फैलते रहे, जैसे—

क्या है नहाये धोये जो नर तरिगे,
मछरी न तरी जाको पानी ही में घर है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि ८४ सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा और बहुत से शूद्र कहे जानेवाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ-संप्रदाय भी जब फैला तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान-संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था*। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिये शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना भी जरूरी समझते थे। सद्गुरु का माहात्म्य सिद्धों में भी और उनमें भी बहुत अधिक था।

* The system of mystic culture introduced by Gorakhnath does not seem to have spread widely through the educated classes.

—Saraswati Bhavan Studies.
(by Gopinath Kaviraj Jha)

नाथ-पंथ के जोगी कान की लौं में बड़े बड़े छेद करके स्फटिक के भारी भारी कुंडल पहनते हैं, इससे कनफटे कहलाते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस पंथ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिये इस पंथ में भाषा के भी ग्रंथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ-पंथ के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था। देशभाषा की इन पुस्तकों में पूजा, तीर्थाटन आदि के साथ साथ हज, नमाज आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार की एक पुस्तक का नाम है 'काफिर बोध'।*

नाथ-पंथ के उपदेशों का प्रभाव हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल में ही पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्नश्रेणी के ही सही, नाथ-पंथ में आए। अब भी इस प्रदेश में बहुत से मुसलमान जोगी गेरुवा वस्त्र पहने, गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा बजाकर 'कलि में अमर राजा भरथरी' के गीत गाते फिरते हैं और पूछने पर गोरखनाथ को अपना आदिगुरु बताते हैं। ये राजा गोपीचंद के भी गीत गाते हैं जो बंगाल में चाटिगाँव के राजा थे और जिनकी माता मैनावती कहीं गोरख की शिष्या और कहीं जलंधर की शिष्या कही गई हैं।

देशभाषा में लिखी गोरखपंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं और विक्रम संवत् १४०० के आसपास की रचनाएँ हैं। इनमें

---

* यह, तथा इसी प्रकार की और कुछ पुस्तकें, मेरे प्रिय शिष्य डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के पास हैं।

सांप्रदायिक शिक्षा है। जो पुस्तकें पाई गई हैं उनके नाम ये हैं— गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव गोरख-संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्तगोरख-संवाद, योगेश्वरी साखी, नरवइ बोध, विराट् पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी। ये सब ग्रंथ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यों के रचे हैं। गोरख के समय में जो भाषा लिखने-पढ़ने में व्यवहृत होती थी उसमें प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का थोड़ा या बहुत मेल अवश्य रहता था। उपर्युक्त पुस्तकों में 'नरवइ बोध' के नाम (नरवइ = नरपति) में ही अपभ्रंश का आभास है। इन पुस्तकों में अधिकतर संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हैं। यह बात उनकी भाषा के ढंग से ही प्रकट होती है। 'विराट पुराण' संस्कृत के 'वैराट पुराण' का अनुवाद है। गोरखपंथ के ये संस्कृत ग्रंथ पाए जाते हैं—

सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति, विवेक-मार्तंड, शक्ति-संगम तंत्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण।

हिंदी भाषा में मिली पुस्तकें अधिकतर इन्हीं के अनुवाद या सार हैं। हाँ 'साखी' और 'बानी' में शायद कुछ रचना गोरख की हो। पद का एक नमूना देखिए—

> स्वामी तुम्हइ गुर गोसाईं।
> अम्हे जो सिष सबद एक बूझिबा।
> निरारंबे चेला कूण विधि रहै।
> सतगुर होइ स पुछ्या कहै।
> अवधू रहिबा हाटे बाटे रूप विरष की छाया।
> तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥

सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योग साधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की सांप्रदायिक

शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अत. वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ। उनका वर्णन यहाँ केवल दो बातों के विचार से किया गया है—

(१) पहली बात है भाषा। सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा-मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे, भइले, बूढ़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिंदी की व्यापक काव्यभाषा का ढाँचा शौरसेनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पच्छिमी हिंदी) का था। वही ढाँचा हम उद्धृत रचनाओं के—

जो, सो, मारिआ, पइठो, जाअ, किज्जइ, करत, जाव (जब तक), ताव (तब तक), भइअ, कोइ,

इत्यादि प्रयोगों में पाते हैं। ये प्रयोग मागधी-प्रसूत पुरानी बँगला के नहीं, शौरसेनी-प्रसूत पुरानी पच्छिमी हिंदी के हैं। सिद्धपा कण्हपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिंदी (काव्यभाषा) है पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' (गीत) की भाषा में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली भी है।

सिद्धों में 'सरह' सब से पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिंदी काव्यभाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।

(२) दूसरी बात है साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा। वज्रयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्रायः अशिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावों के लिये जगह निकाली यह दिखाया जा चुका। उन्होंने बाह्यपूजा जातिपाँति तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परंपरा अपने ढंग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा यह आगे दिखाया जायगा।* कबीर आदि संतों को नाथ-पंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिये बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।

ये ही दो बातें दिखाने के लिये इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म संबंधी रचनाओं की चर्चा छोड़ अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है उसका उल्लेख उनके समयकर्त्ताओं और रचयिताओं के क्रम से करते हैं।

---

* देखो पृ० ८—९

हेमचंद्र—गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् ११५०—११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल (११९९—१२३०) के यहाँ इनका बड़ा मान था। ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' सिद्धराज के समय में बनाया, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। अपभ्रंश के उदाहरणों में इन्होंने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किए हैं, जिनमें से अधिकांश इनके समय से पहले के हैं। कुछ दोहे देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥

(भला हुआ जो मारा गया, हे बहिन! हमारा कांत। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

जइ सो न आवइ, दूइ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु।
वयणु ज खंडइ तउ, सहि ए! सो पिउ होइ न मुज्झु॥

(हे दूती! यदि वह घर नहीं आता तो तेरा क्यों अधोमुख है? हे सखी! जो तेरा वचन खंडित करता है—श्लेष से दूसरा अर्थ, जो तेरे मुख पर चुंबन द्वारा क्षत करता है—वह मेरा प्रिय नहीं।)

जे महु दिण्णा दिअहडा दइऍं पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण॥

(जो दिन या अवधि दयित अर्थात् प्रिय ने प्रवास जाते हुए मुझे दिए थे उन्हें नख से गिनते गिनते मेरी उँगलियाँ जर्जरित हो गईं।)

पिय संगमि कउ निद्दडी? पियहो परोक्खहो केंव।
मइँ बिन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव॥

(प्रिय के संगम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई अर्थात् गई—न यों नींद न त्यों।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिये हेमचंद्र ने भट्टी के समान एक 'द्व्याश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अंतर्गत "कुमारपाल-

चरित" नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य रखे गए हैं।

सोमप्रभ सूरि—ये भी एक जैन पंडित थे। इन्होंने संवत् १२४१ में "कुमारपालप्रतिबोध" नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य लिखा जिसमें समय समय पर हेमचंद्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिए जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रंथ अधिकांश प्राकृत में ही है—बीच बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आए हैं। अपभ्रंश के पद्यों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ सोमप्रभ और सिद्धपाल कवि के बनाए हैं। प्राचीन में से कुछ दोहे दिए जाते हैं—

रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीर।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउँ खीर॥

(जिस दिन दस मुँह एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तभी माता चिंतित हुई कि किसमें दूध पिलाऊँ।)

वेस-विसिट्ठह वारियइ जइवि मणोहर गत्त।
गंगाजल पक्खालियवि सुणिहि कि होइ पवित्त॥

(वेश-विशिष्टों को वारिए अर्थात् बचाइए यदि मनोहर गात्र हों तो भी। गंगाजल से धोई कुतिया क्या पवित्र हो सकती है?)

पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिमि मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

(हे प्रिय! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि में वैसे ही कलकलाती रही जैसे थोड़े जल में मछली तलबेली करती है।)

जैनाचार्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ में 'प्रबंधचिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रंथ 'भोज-प्रबंध' के ढंग का बनाया जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत किए। इन्हीं आख्यानों के अंतर्गत बीच बीच में अपभ्रंश के पद्य भी उद्धृत हैं जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए

हैं। मुंज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। मुंज ने जब तैलंग देश पर चढ़ाई की थी तब वहाँ के राजा तैलप ने उसे बंदी कर लिया था और रस्सियों से बाँधकर अपने यहाँ ले गया था। वहाँ उसके साथ तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया। इस प्रसंग के दोहे देखिए—

झाली तुट्टी किं न मुउ, किं हुण्उ छरपुंज।
हिंदइ दोरी वँधीयउ जिम मंकड़ तिम मुंज॥

(टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा? चारपुंज क्यों न हो गया? जैसे डोरी में वँधा वंदर वैसे घूमता है मुंज।)

मुंज भणइ, मुणालवइ! जुव्वण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

(मुंज कहता है, हे मृणालवति! गए हुए यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खंड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसी ही मीठी रहेगी।)

जा मति पच्छइ संपजइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ, मुणालवइ! विघन न वेढइ कोइ॥

(जो मति या बुद्धि पीछे प्राप्त होती है यदि पहले हो तो मुंज कहता है, हे मृणालवति! विघ्न किसी को न घेरे।)

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ, हउँ तेवइँ का दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु॥

(बाँहें छुड़ाकर तू जाता है, मैं भी वैसे ही जाती हूँ—क्या हर्ज है? हृदयस्थित अर्थात् हृदय से यदि निकले तो मैं जानूँ कि मुंज रूठा है।)

एउ जम्मु नग्गुह गिउ भड़सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु॥

(यह जन्म व्यर्थ गया। न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाए, न गोरी या सुंदरी के गले लगा।)

फुटकल रचनाओं के अतिरिक्त वीरगाथाओं की परंपरा के प्रमाण भी अपभ्रंश-मिली भाषा में मिलते हैं।

विद्याधर—इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् (शायद जयचंद) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रंथ में किया था। ग्रंथ का पता नहीं पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में मिलते हैं जैसे—

> भअ भज्जिअ बंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुत्ति चले।
> मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले।
> चंपारण कंपा पव्वअ झंपा उत्थी उत्थी जीव हरे।
> कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे॥

यदि विद्याधर को समसामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी समझा जा सकता है।

शार्ङ्गधर—इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध ही है। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के नाम से एक सुभाषित संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है। ये रणथंभौर के सुप्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासदों में राघवदेव थे। उनके भोपाल, दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए। दामोदर के तीन पुत्र हुए—शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। हम्मीरदेव संवत् १३५७ में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। अतः शार्ङ्गधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' में बहुत से शाबर मंत्र और भाषा चित्र-काव्य दिए हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आए हैं। उदाहरण के लिये भीमल्लदेव राजा की प्रशंसा में कहा हुआ यह श्लोक देखिए—

> नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
> शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः॥

झूठे गर्वभरा मधालि सहसा रे कन्त मेरे कहे ।
कंठे पाग निवेश जाह शरण श्रीमल्लदेव विभुम् ॥

परंपरा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीररासो" नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा में रचना की थी। यह काव्य आजकल नहीं मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रंथ 'हम्मीररासो' नाम का मिलता है। 'प्राकृत पिंगल सूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीररासो' के ही हैं। अत ऐसे कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर ।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर ॥
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि ॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला ।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला ॥

(दिल्ली में ढोल बजाया गया म्लेच्छों के शरीर मूर्च्छित हुए। आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले। चरणों के भार से पृथ्वी काँपती है। दिशाओं के मार्गों और आकाश में अँधेरा हो गया है, धूल सूर्य्य के रथ को आच्छादित करती है। ओल में खुरासानी ले आए। विपक्षियों को दलमल कर दबाया, दिल्ली में ढोल बजाया।)

पिंधउ दिढ़ सन्नाह, बाह उप्परि पक्खर दइ ।
बंधु समदि रण धँसेउ साहि हम्मीर बअण लइ ॥
उड्डुउ णहपह भमउँ, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउँ ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउँ ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउँ ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउँ ॥

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त वीरगाथाओं की परंपरा के प्रमाण भी अपभ्रंश-मिली भाषा में मिलते हैं।

विद्याधर—इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् (शायद जयचंद) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रंथ में किया था। ग्रंथ का पता नहीं पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में मिलते हैं जैसे—

भअ भज्जिअ बंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुक्कि चले।
मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले।
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा उत्थी उत्थी जीव हरे।
कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे॥

यदि विद्याधर को सम-सामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी समझा जा सकता है।

शार्ङ्गधर—इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध ही है। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने 'शार्ङ्गधर पद्धति' के नाम से एक सुभाषित संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है। ये रणथंभौर के सुप्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासदों में राघवदेव थे। उनके गोपाल दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए। दामोदर के तीन पुत्र हुए—शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। हम्मीरदेव संवत् १३५७ में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। अतः शार्ङ्गधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' में बहुत से शाबर मंत्र और भाषा चित्र-काव्य दिए हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आए हैं। उदाहरण के लिये श्रीमल्लदेव राजा की प्रशंसा में कहा हुआ यह श्लोक देखिए—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः॥

झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाह शरण श्रीमल्लदेव विभुम्॥

परंपरा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीररासो" नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा में रचना की थी। यह काव्य आजकल नहीं मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रंथ 'हम्मीररासो' नाम का मिलता है। 'प्राकृत पिंगल सूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीररासो' के ही हैं। अतः ऐसे कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर॥
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

(दिल्ली में ढोल बजाया गया म्लेच्छों के शरीर मूर्च्छित हुए। आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले। चरणों के भार से पृथ्वी काँपती है। दिशाओं के मार्गों और आकाश में अँधेरा हो गया है; धूल सूर्य के रथ को आच्छादित करती है। ओल में खुरासानी ले आए। विपक्षियों को दलमल कर दबाया, दिल्ली में ढोल बजाया।)

पिंधउ दिढ सन्नाह, वाह उप्परि पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धँसेउ साहि हम्मीर वअण लइ॥
उड्डुउ णहपह भमउँ, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउँ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउँ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउँ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउँ॥

पद्य रखते हुए, अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छंदों में किया गया है। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है। इसमें क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं। नमूने के लिये एक उदारण लीजिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल॥
मारत राय रणरोल पडु, मेइनि हा हा सद्द हुअ।
सुरराय नयर नरअर-रमणि वाम नयन पप्फुरिअ धुअ॥

दूसरी विशेपता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्राय. देशभाषा कुछ अधिक लिए हुए है और उसमें तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है। तात्पर्य यह कि वह प्राकृत की रूढियों से उतनी अधिक बँधी नहीं है। उसमें जैसे इस प्रकार का टकसाली अपभ्रंश है—

पुरिसत्तेण पुरिसउ, नहिं पुरिसउ जम्म मत्तेन।
जलदानेन हु जलओ, न हु जलओ पुंजिओ धूमो॥

वैसे ही इस प्रकार की देशभाषा या बोली भी है—

कतहुँ तुरुक बरकर। बार जाए ते वेगार धर।
धरि आनय बाभन बरुआ। मथा चढ़ावइ गाय क चुरुआ।
हिंदू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार॥

अपभ्रंश की कविताओं के जो नए-पुराने नमूने अब तक दिए जा चुके हैं उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्यभाषा प्राकृत की रूढियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम-संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', 'नअर', 'बिज्जा', 'बअण' बनाकर ही रखे जाते थे। 'जासु', 'तासु', ऐसे रूप बोलचाल से उठ जाने पर भी पोथियों में बराबर चलते रहे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश काल

में कृदंत विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था पर प्राकृत की परंपरा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं में कृदंत विशेषणों में मिलता है—जैसे 'जुव्वण गयु न झूरि' = गए हुए यौवन को न झूर = गए यौवन को न पछता। जब ऐसे उदाहरणों के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते हैं जिनमें विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नहीं है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी परंपरा का पालनमात्र है। इस परंपरा-पालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के पद्यों में 'मिट्ठ' और 'मीठ दोनों रूपों का प्रयोग पाते हैं तब उस काल में 'मीठ शब्द के प्रचलित होने में क्या संदेह हो सकता है ?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्यभाषा देशभाषा की ओर अधिक प्रवृत्त होती गई त्यों त्यों तत्सम संस्कृत शब्द रखने में संकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यों और कीर्त्तिलता में इसका प्रमाण मिलता है।

—

प्रकरण २

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।

इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि प्राकृत पढ़े हुए पंडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जन साधारण की बोली में गीत दोहे आदि प्रचलित चले आते रहे होंगे जिन्हें पंडित लोग गँवारू समझते रहे होंगे। ऐसी कविताएँ राजसभाओं तक भी पहुँच जाती रही होंगी। 'राजा भोज जस मूसरचंद' कहनेवालों के सिवा देशभाषा में सुंदर भाव भरी कविता कहनेवाले भी अवश्य ही रहे होंगे। राजसभाओं में सुनाए जानेवाले नीति, शृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीररस के पद्य छप्पय में। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे। ऐसे राजाश्रित कवियों की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों में भी रक्षित रहती थीं और भट्ट चारण जीविका के

विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। उत्तरोत्तर भट्ट चारणों की परंपरा में चलते रहने से उनमें फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलती है। इसी से यह काल 'वीरगाथा-काल' कहा गया।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्धन (मृत्यु संवत् ७०४) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो रहा था। कन्नौज दिल्ली अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग में हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो गई थी और खंड खंड होकर जो गहरवार चौहान चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी; कभी कभी तो शौर्य प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। तात्पर्य यह कि जिस समय से हमारे हिंदी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु-संवत् १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ

से लूटमार के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों पर, विशेषत. राजपूताने पर, चढाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता, पर कहीं कहीं सस्कृत ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आना-सागर है। अर्णोराज ने उस सेना का सहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो 'आना सागर' कहलाया।

आना के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्तमान किशनगढ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ आई जिसे परास्त कर वीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढा। उसने दिल्ली और हाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्य्यावर्त्त के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक-लेखवाले शिवालिक स्तभ पर खुदे हुए वीसलदेव के वि० स० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढाई (सं० १२४७) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाडौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर लौटना पड़ा था। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक राजपूताने आदि में कई स्वतत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लडते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध रणथभौर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परपरा में थे। वे मुसलमानों से निरतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें

कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानों के शासन-काल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपए पानेवाले कवियों का समय बीत चुका था। राजदरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम विजय शत्रु कन्या हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था वही सम्मान पाता था।

इस दशा में काव्य या साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं—मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी। फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे योरप में वीरगाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा वैसे ही यहाँ भी था। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिद्वंद्वियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था पर गौण रूप में, प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही चढ़ाई की जड़ लिखी गई है। हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कारण कल्पित किया गया

है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंधकाव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (Ballads) के रूप में। साहित्यक प्रबंध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है 'पृथ्वीराजरासो'। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक 'बीसलदेवरासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है, जिसके गानेवाले प्राय समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है। ये ग्रंथ 'रासो' कहलाते हैं। कुछ लोग इस शब्द का संबंध 'रहस्य'' से बतलाते हैं। पर ''बीसलदेव-रासो'' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अत हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते होते 'रासो' हो गया है।

(१) खुमानरासो—संवत् ८१० और १००० के बीच में चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है।

पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा) खुम्माण मत्तट भर्तृपट्ट सिंह, खुम्माण (दूसरा) महायक खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि सं ७९१ से ८१ तक है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि सं ९९९ और १ के मिले हैं। अतएव इन १९ वर्षों का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

खुम्माण (पहला)—वि सं ८१ —८३५
खुम्माण (दूसरा)—वि सं ८७० —९
खुम्माण (तीसरा)—वि सं ९६५—९९

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि सं ८७० से ८९ तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिंध देश को विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य ग्रंथ लिखा था जिसमें श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।

(२) बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'बीसलदेवरासो' नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठों का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगीत के रूप में है। ग्रंथ में निर्माण-काल यों दिया है—

> बारह सै बहोत्तरां मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
> 'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द बरहोत्तर, 'द्वादशोत्तर' का रूपांतर है। अत 'बारह सै बहोत्तरां' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आसपास है। उसके शिलालेख भी संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त हैं। बीसलदेवरासो में चार खंड हैं। यह काव्य लगभग २००० चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार यों है—

खंड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना।

खंड ३—राजमती का विरह वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खंड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं जब कि उनके संबंध में कल्पना की गुंजाइश हुई होगी। यह घटनात्मक काव्य नहीं है वर्णनात्मक है। इसमें दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उसका उड़ीसा जाना। इनमें से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार-वंश की रानी थी यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो, असली नाम न दिया हो। कदाचित् इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध में कई स्थानों पर जो वाक्य आए हैं उन पर ध्यान देने से यह सिद्धांत पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे—"जनमी गोरी तू जेसलमेर"; 'गोरड़ी जेसलमेर की'। आबू के परमार भी राजपूताने में फैले हुए थे। अतः राजमती का इनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं, जैसे— माघ अचारज कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए हैं अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों से

खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने अपने राज्य में मिलाए थे। इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (स्कृत) में है जिसका कुछ अश बडी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूज़ियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेव-रासो में, जैसा कि होना चाहिए था न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोपितपतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अत इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रथ नहीं है, केवल गाने के लिये रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ छै (=सूखता है), पाटण थीं (=पाटन से), भोज तणा (=भोज का), खड खडरा (=खड खड का) इत्यादि। इस ग्रथ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्यभाषा में ब्रज और खडी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिंदी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेवरासो में बीच बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पडता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त में। रणि = रण में। प्राविजइ = प्राप्त हो, या किया जाय। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। वाल हो =

नासा का। इसी प्रकार 'नयर' (नगर) 'पसाउ' (प्रसाद) 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

इसमें आए हुए कुछ फारसी अरबी तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे—महल इनाम, मेवा ताजबी (ताजियाना) आदि। जैसा कहा जा चुका है पुस्तक की भाषा में फेरफार अवश्य हुआ है; अतः ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और वे इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दों का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं—

महल चवदसौ ताजदीन। तुरकन्हो चडि चाल्यौ मीर॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। (राजपूताने का इतिहास भूमिका पृ० १९)। यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य-संबंधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। ध्यान देने की पहली बात है, राजपूताने के एक भाट का अपनी राजधानी में हिंदी का मेल करना। जैसे "मोती का आखा किया"। "चंदनकाठ को माँडवो"। सीसा को चोटी मोती को माला" इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था वह 'डिंगल' कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल-भाषा में लिखे

हुए ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात, जो कि साहित्य से संबंध रखती है, वीर और श्रृंगार का मेल है। इस ग्रंथ में श्रृंगार की ही प्रधानता है, वीररस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए हैं।

'बीसलदेवरासो' के कुछ पद्य देखिए—

परणवा[1] चाल्यो बीसलराय। चउरास्या[2] सहु[3] लिया बोलाइ।
जान-तणी[4] साजति करउ। जीरह रँगावली पहरज्यो टोप॥

× × × ×

हुअउ पइमारउ बीसलराय। आवी सयल[5] अँतेवरी[6] राव॥
रूप अपूरब पेषियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल संसार॥
अति रंग स्वामी सूँ मिली राति। बेटी राजा भोज की॥

× × × ×

गरब करि ऊभो[7] अइ साँभरयो राय। मो सरीसा नहिं ऊर भुवाल॥
म्हाँ घरि[8] साँभर उग्गहइ। चिहुँ दिसि थाण जेसलमेर॥
"गरबि न बोलो हो साँभरया-राव। तो सरीसा घणा और भुवाल॥
एक उड़ीसा को धणी[9]। बचन हमारइ तू मानि जु मानि॥
ज्यूँ थारइ[10] साँभर उग्गहइ। राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान"॥

× × × ×

कुँवरि कहइ "सुणि, साँभरया राय। काइँ[11] स्वामी तू उलगइ[12] जाइ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ। थारइ छइ[13] साठि अँतेवरी नारि"॥
"कड़वा बोल न बोलसि नारि। तू मो मेल्हसी[14] चित्त विसारि"॥
जीभ न जीभ विगोयनो[15]। दव का दाधा कुपली मेल्हइ[16]॥
जीभ का दाधा नु पाँगुरइ[17]। नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ॥

× × × ×

आव्यो राजा मास बसंत। गढ़ माहीं गूड़ी ऊछली[18]॥

---

१ ब्याहने। २ सामंतों को। ३ सब। ४ यान की, बारात की। ५ सब। ६ अंतःपुर। ७ खड़ा है। ८ घर में। ९ स्वामी, राजा। १० तुम्हारे (यहाँ)। ११ क्यों। १२ परदेश में। १३ तेरे हैं। १४ भुला टाल। १५ बात से बात नहीं छिपाई जा सकती। १६ आग का जला कोंपल छोड़ दे तो छोड़ दे। १७ जीभ का जला नहीं पनपता। १८ आकाश-दीप जलाए गए।

कत कन मिलती जन संसार। मान-भंग हो तो मारहो[1]॥
सैंवी परिरंभण राज कुमारि।

(१) चंद बरदाई (संवत् १२२५—१२४९)—ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओं के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं उनके सखा और सामंत भी थे, तथा षड्भाषा व्याकरण काव्य साहित्य छंदःशास्त्र ज्योतिष पुराण नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से ये अदृष्ट-काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में सदा महाराज के साथ रहते थे, और जहाँ जो बातें होती थीं, सब में सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का व्यवहार हुआ है। मुख्य छंद हैं, कवित्त (छप्पय) दूहा तोमर, त्रोटक गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे

---

१ यदि यह कन्या या जो कब सँभालकर (तुरत) मिलती तो कम मान भंग होता। २ (और) उसे परिरंभण (आलिंगन करना) राजा हार कर हो।

ही रासो के पिछले भाग का भी चद के पुत्र जल्हन द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दोन गोरी पृथ्वीराज को क़ैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों पीछे चद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का सकेत किया। जल्हण के हाथ में रासो के सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

* * * *

रघुनाथचरित हनुमतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चद कृत चद-नद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराज रासो में आबू के यज्ञकुड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सु दरी और कमला। सु दरी का विवाह कन्नोज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस सयोग से जयचद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। जयचद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिये निमन्त्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या सयोगिता का स्वयवर रचा। राजसूय यज्ञ में सब राजा आए, पर पृथ्वीराज नहीं आए। इस पर जयचद ने चिढकर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकालकर गंगा-किनारे के एक महल में भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर दल-विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व विवाह किया और अंत में वे उसे हर ले गए। रास्ते में जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशल पूर्वक दिल्ली पहुँच गए। वहाँ भोग विलास में ही उनका सारा समय बीतने लगा राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया।

बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल के पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के बैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसैनशाह को चाहती थी। जब ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग हुए, तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है अतः इन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी बैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं। यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के

युद्ध और अनेक राज-कन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो म भरी पड़ी हैं।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा संदेह किया है और उसे १६ वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो में चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह संदेह और भी पुष्ट होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिल्कुल भाटों की कल्पना मानते हैं। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत मे 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक काव्य लिखा है जो पूरा नहीं मिला है। उसमें दिए हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक और समसामयिक रचना है। उसके तथा 'हम्मीर महाकाव्य' आदि कई प्रामाणिक ग्रंथों के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष में लड़ना, संयोगिता-हरण इत्यादि बातें असंगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है, क्योंकि इनमें से सोलंकी चौहान आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे सूर्यवंशी चंद्रवंशी आदि कहे गए हैं, अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ में, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ

युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् मिलते हैं उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए हैं इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के ४ जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में हैं। जयचंद के ११ जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच में हैं। परमर्दिदेव के ६ जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् १२३९ का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से भी हो जाती है। फारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१) में हुआ। अतः इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्षसमर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में, यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अन्तर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा—

> एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रम साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नंद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यों ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नंदवंशी शूद्र थे इसलिये उनका राज्यकाल राजपूत भाटों ने निकाल दिया इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी

प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित सवत् में से कुछ काल निकालकर सवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह भी विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम सवत् में से ६०-६१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो में सवत् दिए हैं, उसने क्या ऐसा जान-बूझकर कियाहै अथवा धोखे या भ्रम में पडकर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमें 'अनद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लिष्यौ विप्र गुन गुत्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने का अर्थ निकाला गया है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है। दूसरी बात यह कि 'गुन गुत्त' ब्राह्मण का नाम (गुण गुप्त) प्रतीत होता है।

बात सवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिये क्या कहा जा सकता है ? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्यग्रथ है। पर काव्य-ग्रथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराजविजय भी तो काव्यग्रथ ही है, फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं ? इस सबध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रथ वास्तव में जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर कुछ पद्य चद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगना असभव है। यदि यह ग्रथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े से अश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ सवत् तो ठीक होते।

रहा यह प्रश्न कि पृथ्वीराज की सभा में चंद नाम का कोई कवि था या नहीं। पृथ्वीराज-विजय के कर्त्ता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या वंदिराज का नाम "पृथ्वी भट्ट" लिखा है, चद का उसने कहीं नाम नहीं लिया है। पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में यह श्लोक आया है—

युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् मिलते हैं उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए हैं इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के ४ जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में हैं। जयचंद के १२ जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच में हैं। परमर्दिदेव के ६ जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् १२३९ का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से भी हो जाती है। फारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि॰ सं॰ १२४८—ई॰ सन् ११९१) में हुआ। अतः इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्षसमर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में, यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा—

> एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रम साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नंद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यों ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नंदवंशी शूद्र थे इसलिये उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने निकाल दिया इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी

प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह भी विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम संवत् में से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो में संवत् दिए हैं, उसने क्या ऐसा जान-बूझकर किया है अथवा धोखे या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमें 'अनद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज को लिष्यौ विप्र गुन गुत्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने का अर्थ निकाला गया है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है। दूसरी बात यह कि 'गुन गुत्त' ब्राह्मण का नाम (गुण गुप्त) प्रतीत होता है।

बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिये क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्यग्रंथ है। पर काव्य ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराजविजय भी तो काव्यग्रंथ ही है, फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े से अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।

रहा यह प्रश्न कि पृथ्वीराज की सभा में चंद नाम का कोई कवि था या नहीं। पृथ्वीराज-विजय के कर्त्ता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या बंदिराज का नाम "पृथ्वी भट्ट" लिखा है, चंद का उसने कहीं नाम नहीं लिया है। पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में यह श्लोक आया है—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत् ।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ॥

इसमें यमक के द्वारा जिस चंद्रराज कवि का संकेत है वह रायबहादुर श्रीयुत पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार 'चंद्रक' कवि है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र ने भी किया है। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंद बरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट-कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित 'भट्ट-भणंत' तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान उसी के नाम पर 'रासो' नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।
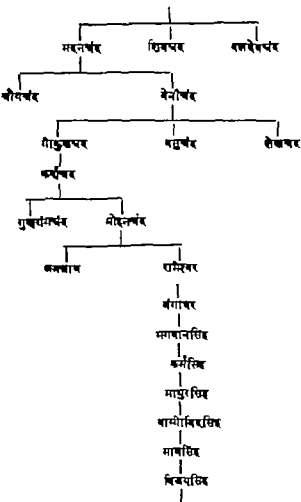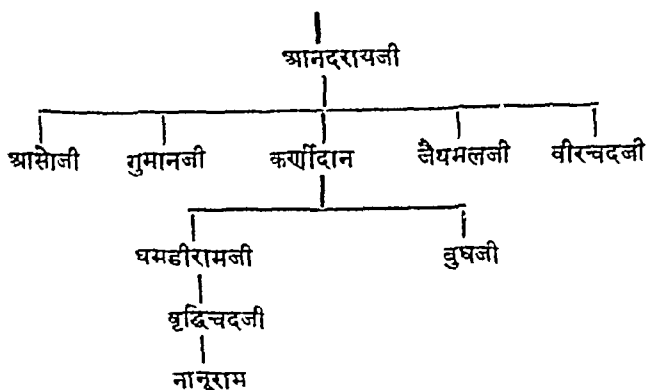
नानूराम का कहना है कि चद के चार लड़के थे जिनमें से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अमोर में जा बसे और चौथे जल्ल का वश नागौर में चला। पृथ्वीराजरासो में चद के लड़को का उल्लेख इस प्रकार है—

> दहति पुत्र कविचद के सु दर रूप सुजान।
> इक्क जल्ह गुन बावरो गुन-समु द ससमान॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चद के दसों पुत्रों के नाम दिए हैं। 'सूरदास' की साहित्यलहरी की टीका में एक पद ऐसा आया है जिसमें सूर की वशावली दी है। वह पद यह है—

> प्रथम ही प्रभु यज्ञ तें भे प्रगट अद्‌भुत रूप।
> ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
> पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
> कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
> पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
> तासु बस प्रसस में भौ चद चारु नवीन॥
> भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
> तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥

दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
सीलचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रनथंभौर हमीर भूपति सैगत खेलत जाय।
तासु बंस अनूप भो हरिचंद भनि बिख्यात॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यौ ता सुत धीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट्ट गंभीर॥
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचंद सुभाय।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाय॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सातो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनचंद्र को जल्हचंद की वंश-परंपरा में बताया है। उक्त पद में उन्हें गुणचंद की परंपरा में कहा है। बाकी नाम प्रायः मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या में अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़-तोड़ करते रहे। अंत में अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। इसके इस प्रकार उत्साह-वर्द्धन पर कहते हैं कि उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराजरासो की प्रति मेरे पास है। पर उन्होंने महोबा समय की जो नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी था वह और भी ऊटपटाँग और रद्दी है।

पृथ्वीराजरासो के 'पद्मावती समय' के कुछ पद्य नमूने के लिये दिए जाते हैं —

हिंदुवान-थान उत्तम सुदेस। तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस॥
संभरि-नरेस चहुआन थान। पृथिराज तहाँ राजंत भान॥

सभरि नरेस सोमेस पूत । देवत रूप अवतार धूत[1] ॥
जिहि पकरि साह साहाब लीन । तिहुँ बेर करिय पानीप हीन ॥
सिंगिनि-सुसद गुनि चढ़ि जँजीर । चुकइ न सबद बेधंत तीर[2] ॥

मनहु कला ससभान[3] कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय[4] ॥
बिगसि कमल स्रिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय ।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नखसिख अहिघुट्टिय[5] ॥

*　　*　　*　　*

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक सद[6] ।
कमल-गंध, बयसंध, हंसगति चलति मंद मंद ॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस ।
भमर भवहिं भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस ॥

प्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिपि कग्गर[7] दिन्नौ ।
लगन बरग रचि सरब दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ ॥
सै ग्यारह अरु तीस साष संवत परमानह ।
जो पित्री कुल सुद्ध बरन, बरि रक्खहु प्रानह ॥

---

१ धृत, धारण किया । २ (शब्दबेधी बाण चलाने का उल्लेख) सिंगी बाजे का शब्द सुनकर या अंदाज कर डोरी पर चढ़ उसका तीर उस शब्द को बेधते हुए (बेधने में) नहीं चूकता था । ३ चंद्रमा । ४ उसी के पास से मानो अमृत रस पिया । ५ अभिघटित किया । बनाया । ६ पोहे हुए अच्छे मोती दिखाई पड़ते हैं । ७ कागज ।

रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट केदार ने 'जयचंद-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था।* इसी प्रकार का 'जयमयंक-जसचंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ मधुकर कवि ने भी लिखा था। पर दुर्भाग्य से ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भांडार में सुरक्षित है। इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तांत इन्हीं दोनों ग्रंथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो था गहरवारों (राठौरों) का विशाल साम्राज्य जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्राय सारा मध्य देश, काशी से कन्नौज तक, था। दूसरा चौहानों का, जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-संपन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों की दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का

---

* भट्ट-भणंत पर यदि विश्वास किया जाय तो केदार महाराज जयचंद के कवि नहीं, सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के कविराज थे। 'शिवसिंहसरोज' में भाटों की उत्पत्ति के संबंध में यह विलक्षण कवित्त उद्धृत है—

प्रथम विधाता तें प्रगट भए बंदीजन, पुनि पृथुजश तें प्रकास सरसात हैं।
माने सूत सौनक न, बाँचत पुरान रहे, जस को बखाने महासुख सरसात हैं।
चंद चौहान के, केदार गोरी साह जू के, गंग अकबर के बखाने गुनगात हैं।
काव्य कैसे माँस अजनास धन भाँटन को, लूटि धरै ताको खुरा-खोज मिटि जात हैं।

प्रभाव राजपूताने के राजाओं पर था उसी प्रकार जयचंद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओं पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

(५) जगनिक (सं० १२३०)—ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो वीरप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदीभाषा-भाषी प्रांतों के गाँव गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाए जाते हैं। गाँवों में जाकर देखिए तो मेघ-गर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीरहुंकार सुनाई देगी—

> बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जियै सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन को धिक्कार।

इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ काल-यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे बंदूक, किरिच) देशों और जातियों (जैसे फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते

है। यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है। वहाँ इसके गानेवाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में विशेषतः महोवे के आसपास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा खंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा-संबंधी ये वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्ह खंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०-७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

(७) श्रीधर—इन्होंने संवत् १४५४ में 'रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाटन के सूबेदार जफ़र ख़ाँ पर प्राप्त की थी। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

> ढमढमइ ढमढमकार ढकर ढोल ढोली जंगिया।
> सुर करहि रण-सहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥
> कलयलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरहरइ।
> संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सवि संगरइ॥

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

वीरगाथाकाल के समाप्त होते होते हमें जनता की बहुत कुछ असली बोलचाल और उसके बीच कहे सुने जानेवाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देनेवाले हैं दिल्ली के खुसरो मियाँ और तिरहुत के विद्यापति। इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध असंदिग्ध सामग्री मिलती है उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है। लिखित साहित्य के रूप में ठेठ बोलचाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे-सुने-जानेवाले गीत पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानो किसी का ध्यान ही नहीं था। जैसे पुराना चावल ही बड़े आदमियों के खाने योग्य समझा जाता है वैसे ही अपने समय से कुछ पुरानी पड़ी हुई परंपरा के गौरव से युक्त भाषा ही पुस्तक रचनेवालों के व्यवहार योग्य समझी जाती थी। पश्चिम की बोलचाल गीत मुख-प्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो की कृति में पाते हैं उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली में। इसके पीछे फिर भक्तिकाल के कवियों ने प्रचलित देश भाषा और साहित्य के बीच पूरा-पूरा सामंजस्य घटित कर दिया।

(७) खुसरो—पृथ्वीराज की मृत्यु (संवत् १२४९) के ९० वर्ष पीछे खुसरो ने संवत् १३४० के आसपास रचना आरंभ की। इन्होंने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक कई पठान बादशाहों का ज़माना देखा था। ये फारसी

के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे। इनकी मृत्यु संवत् १३८१ में हुई। ये बड़े ही विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे इसी से जनता की सब बातों में पूरा योग देना चाहते थे। जिस ढँग के दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ आदि साधारण जनता की बोलचाल में इन्हें प्रचलित मिलीं उसी ढँग के पद्य पहेलियाँ आदि कहने की उत्कंठा इन्हें भी हुई। इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता थी, यद्यपि कुछ रसीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे हैं।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्यभाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी व्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अत जिन पच्छिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी बोली थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा व्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिंदी-रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल पहेलियों मुकरियों और दो-सखुनों में ही मिलती है—यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं व्रजभाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा व्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है। यही व्रजभाषापन देख उर्दू साहित्य के इतिहास लेखक प्रो० आज़ाद को यह भ्रम हुआ था कि व्रजभाषा से खड़ी बोली (अर्थात् उसका अरबी-फारसी ग्रस्त रूप उर्दू) निकल पड़ी*।

खुसरो के नाम पर संगृहीत पहेलियों में कुछ प्रक्षिप्त और पीछे की जोड़ी पहेलियाँ भी मिल गई हैं, इसमें संदेह नहीं। उदाहरण के लिये हुक्केवाली पहेली लीजिए। इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि

---

* देखिए मेरे 'बुद्धचरित' काव्य की भूमिका में "काव्यभाषा" पर मेरा प्रबंध जिसमें उसके स्वरूप का निर्णय किया गया है तथा व्रज, अवधी और खड़ी बोली के भेद और प्रवृत्तियाँ निरूपित की गई हैं।

तंबाकू का प्रचार हिंदुस्तान में जहाँगीर के समय से हुआ। इसकी पहली गोदाम अँगरेजों की सूरतवाली कोठी थी जिससे तंबाकू का एक नाम ही 'सुरती' या 'सुर्ती' पड़ गया। इसी प्रकार भाषा के संबंध में भी संदेह किया जा सकता है कि वह दीर्घ मुख-परंपरा के बीच कुछ बदल गई होगी उसका पुरानापन कुछ निकल गया होगा। किसी अंश तक यह बात हो सकती है पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्यभाषा से भिन्न था। प्रश्न यह उठता है कि क्या उस समय तक भाषा घिसकर इतनी चिकनी हो गई थी जितनी पहेलियों में मिलती है।

खुसरो के प्रायः दो सौ वर्ष पीछे की लिखी जो कबीर की बानी की हस्तलिखित प्रति मिली है उसकी भाषा कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी है पर उसमें पुराने नमूने अधिक हैं—जैसे सप्तमी विभक्ति के रूप में इ (घरि=घर में)। 'भया' 'समाया' के स्थान पर 'भइया' 'भइआ' 'समाइया'। 'उनई आई' के स्थान पर 'उनमिवि आई' (झुक आई) इत्यादि। यह बात कुछ उलझन की अवश्य है पर विचार करने पर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि खुसरो के समय में 'इट्ठ' 'बसिट्ठ' आदि रूप ऐंठ (इष्ट इट्ठ, ऐंठ) बसीठ (विसृष्ट विसिट्ठ बसिट्ठ बसीठ) हो गए थे। अतः पुराने प्रत्यय आदि भी बोलचाल से बहुत कुछ उठ गए थे। यदि 'भइया' 'भइआ' आदि पुराने रूप रखें तो पहेलियों के छंद टूट जायँगे। अतः यही धारणा होती है कि खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था; उसी प्रकार जैसे अँगरेजों का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था। पर कबीर

उज्जल बरन अधीन तन एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है निपट पाप की खान॥
खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भए एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे घर दीनी बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा-अगिन मोहि डस डस जाय

हजरत निजामुद्दीन चिश्ती जरजरीं बख्श पीर
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर॥

ज़े हाल मिसकीं मकुन तग़ाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम ऐ जाँ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥
शबाने हिज्राँ दराज़ चूँ जुल्फ़ व रोज़े वसलत चूँ उम्र कोताह।
सखी! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ?॥

---

(८) विद्यापति—अपभ्रंश के अंतर्गत इनका उल्लेख हो चुका है।* पर जिसकी रचना के कारण ये 'मैथिलकोकिल' कहलाए वह इनकी पदावली है। इन्होंने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। विद्यापति को बंगभाषावाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिंदी से अलग माना है। पर केवल भाषा शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का

---

* देखिए ५

विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिंदी का एक ही साहित्य माना जाता।

खड़ी बोली, बाँगड़ू, ब्रज, राजस्थानी कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलनेवाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल आइल', 'गयल-गइल', 'हमरा' 'तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिंदी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अत. जिस प्रकार हिंदी-साहित्य "बीसलदेव रासो" पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।

विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए।

आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढा कर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविंद' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ

वर्णित है उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ वृंदावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।

विद्यापति संवत् १४६० में तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्तमान थे। उनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चाँद होअथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥
लोचन तूअ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जाने।
से फिरि जाय लुकैलन्ह जल महँ, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुनु बर जोवति, ई सम लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन, लखिमा देइ प्रति भाने॥

—

कालि कहल पिय साँझहि रे, जाइबि मइ मारू देस।
मोए अभागलि नहिं जानल रे, संग जइतवँ जोगिनि वेस॥
हिरदय बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाइ।
एक सयन सखि सूतल रे, अछल बलभ निसि भोर॥
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जोर।
सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय बिनु घर मोए आजि।
बिनति करहुँ सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिहर साजि॥
विद्यापति कवि गाओल रे, आवि मिलत पिय तोर।
लखिमा देइ बर नागर रे, राए सिवसिंह नहिं भोर॥

—

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना

उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर-प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हो गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना ही नहीं हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिंदी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ६०० वर्षों के हिंदी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

पूर्व-मध्यकाल

(भक्तिकाल १३७५—१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?

यह तो हुई राजनीतिक परिस्थिति। अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भागों में रमते चले आ रहे थे*। इसी बीच

* देखो पृ० ९—११।

इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्मभावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन क्या निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की सपत्ति होती है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के सकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का सस्कार फैलाने का जो कार्य्य वज्रयानी सिद्धों और नाथ-पंथी जोगियों के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका है*। पर उनका उद्देश्य 'कर्म' को उस तग गड्ढे से निकाल कर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र में लाना न था बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था। जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे। उनकी बानी तो 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' लेकर उठी थी। अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट

---

* देखो पृ० १९—२०।

के भीतर के कोने की बात बताया करते थे। भक्ति, प्रेम आदि हृदय के प्रकृत भावों का उनकी अंतस्साधना में कोई स्थान न था, क्योंकि इनके द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना तो सबके लिये सुलभ कहा जा सकता है। सामान्य अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित जनता पर इनकी बानियों का प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारों में जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे। इसी दशा की ओर लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। प्रतिवर्तन के लिये बहुत कड़े धक्कों की आवश्यकता थी।

ऊपर जिस अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है वह सामान्य जनसमुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और योगियों की बानियों का कोई असर न था। वे इधर उधर पड़े अपना कार्य्य करते जा रहे थे। पंडितों के शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्त की थी। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की परंपरा विद्वन्मंडली के भीतर चली चल रही थी जिससे परंपरागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

अनन्तरवर्ती भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू-जनता ही नहीं, देश में बसनेवाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर

भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान रामानुजाचार्य्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य्य जी ने (संवत् १२५४–१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्व भाग में जयदेवजी के कृष्ण-प्रेम संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत में एक ओर तो ईसा की १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य्य की शिष्य परंपरा में स्वामी रामानंद जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया, दूसरी ओर वल्लभाचार्यजी ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपराएँ चलीं जिनमें आगे चलकर हिंदी-काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचानेवाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ। इन भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनंद' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र में किया।

एक ओर तो प्राचीन सगुणोपासना का यह काव्यक्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक 'सामान्य भक्ति-मार्ग' का विकास भी होने लगा। उसके विकास के लिये किस प्रकार वीरगाथा-काल में ही सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों के द्वारा मार्ग

निकाला जा चुका था यह दिखाया जा चुका है*। वज्रयान के अनुयायी अधिकतर नीची जाति के थे अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असंतोष स्वाभाविक था। नाथ-संप्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं आते थे। इस संप्रदाय के कनफटे रमते जोगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इला-पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करनेवाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखा कर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेद-शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं, ईश्वर तो प्रत्येक के घट के भीतर है, अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है, हिंदू-मुसलमान दोनों एक हैं, दोनों के लिये शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति-पाँति के भेद व्यर्थ खड़े किए गए हैं इत्यादि। इन जोगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी आए। इसका उल्लेख पहले हो चुका है†।

भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अंतस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथ कर चुका था यह हम कह चुके हैं। पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त (सं० १३२८—१४०८) नामदेव ने हिंदू मुसलिम दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुणपंथ' के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कबीर के

---

* देखो पृ० १, १९ तथा ४२ (दूसरा पैरा)

† न देखो पृ० २।

लिये नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेदभाव को निर्दिष्ट करनेवाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग रखकर उन्होंने अंतस्साधना पर जोर दिया था। पर नाथ-पंथियों की अंतःसाधना हृदयपक्ष शून्य थी, उसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथपंथ की बहुत सी बातों को अपनी बानी में जगह दी, पर यह बात उन्हें खटकी। इसका संकेत उनके ये वचन देते हैं—

> झिलमिल झगरा झूलते बाकी रहा न काहु।
> गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु॥
> बहुत दिवस ते हिंडिया सुन्नि समाधि लगाइ।
> करहा पड़िया गाड़ में दूरि परा पछिताइ॥

(करहा = (१) करभ, हाथी का बच्चा (२) हठयोग की क्रिया करनेवाला)

अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिये भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिये सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना 'निर्गुण पंथ' बड़ी धूम-धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्तिमार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुन पंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।

कबीर तथा अन्य निर्गुनपंथी संतों के द्वारा अंतस्साधना में रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियों के यहाँ थी। इन संतों के ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप ही रहे, धर्मस्वरूप न हो पाए। ईश्वर के धर्मस्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है प्राचीन वैष्णव भक्ति-मार्ग की रामभक्ति शाखा उठी। कृष्णभक्ति शाखा केवल प्रेम-स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।

यहाँ पर एक बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गए हैं वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते हैं। 'कर्म' अर्थशून्य विधि-विधानों से निकम्मा हो सकता है, 'ज्ञान' रहस्य और गुह्य की भावना से पाषंड-पूर्ण हो सकता है और 'भक्ति' इंद्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासना-ग्रस्त हुआ हो पर 'निर्गुन पंथ' में अविकृत रहा। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली; फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्ति-शाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही इससे वह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्ति-पद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा। इधर आजकल अलबत्ता कुछ लोगों ने कृष्णभक्ति-शाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य भाव' का गुह्य रहस्य

घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े हैं और राम की भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं।

यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुणपंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच नीच और जाति-पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्तिमार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्यदेश में नामदेव और रामानंदजी द्वारा हुआ। महाराष्ट्र देश में नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ और मृत्युकाल शक संवत् १२७२ प्रसिद्ध है। ये दक्षिण के नरसी वमनी (सतारा जिला) के दरजी थे। पीछे पंढरपुर के विठोबा (विष्णु भगवान्) के मंदिर में भगवद्भजन करते हुए अपना दिन बिताते थे।

महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिंदी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। इन हिंदी-रचनाओं में एक विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिये इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आदिकाल के अंतर्गत यह कहा जा चुका है कि मुसलमानों के आने पर पठानों के समय में गोरखपंथी योगियों का देश में बहुत प्रभाव था। नामदेव के ही समय में प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए हैं जिन्होंने अपने को गोरख की शिष्य-परंपरा में बताया है। ज्ञानदेव का परलोकवास बहुत थोड़ी अवस्था में ही हुआ, पर नामदेव उनके उपरांत बहुत दिनों तक जीवित रहे। नामदेव सीधे सादे सगुण भक्तिमार्ग

पर चढ़े आ रहे थे, पर पीछे उस भाव-भेद के प्रभाव के भीतर भी वे लाए गए, जो अंतर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। [illegible] व ज्ञानदेव।

एक बार ज्ञानदेव इन्हें साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले थे। मार्ग में ये अपने प्रिय विग्रह विठोबा (भगवान्) के वियोग में व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव इन्हें बराबर समझाते जाते थे कि 'भगवान् क्या एक ही जगह हैं? वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हें न होगी तब तक तुम पक्के न होगे'। ज्ञानदेव की बहिन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन 'संत-परीक्षा' हुई। जिस गाँव में यह संत-मंडली उतरी थी उसमें एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब संत चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पिटना लेकर सबके सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर वह बढ़ा तब वे बिगड़ खड़े हुए। इस पर वह कुम्हार बोला "नामदेव को छोड़ और सब घड़े पक्के हैं।" बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि नामदेव को नाथपंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिये ज्ञानदेव की ओर से तरह तरह के प्रयत्न होते रहे।

सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी। अब भी एक प्रकार के मुसलमान फ़क़ीर अपने शरीर पर ज़ोर ज़ोर से डंडे जमाकर भिक्षा माँगते हैं।

नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे, अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव बराबर इन्हें "बिनु गुरु होइ न ज्ञान" समझाते आते थे। [illegible] कुछ कहा सुना जाता है

और ईश्वर-प्राप्ति की जो साधना बताई जाती है, वह किसी गुरु की सिखाई हुई होती है। परमात्मा के शुद्ध निर्गुण स्वरूप के ज्ञान के लिये ज्ञानदेव का आग्रह बराबर बढ़ता गया। गुरु के अभाव के कारण किस प्रकार नामदेव में परमात्मा की सर्वव्यापकता का उदार भाव नहीं जम पाया था और भेद भाव बना था, इस पर भी एक कथा चली आती है। कहते हैं कि एक दिन स्वय बिठोबा (भगवान्) एक मुसलमान फ़क़ीर का रूप धरकर नामदेव के सामने आए। नामदेव ने उन्हें नहीं पहचाना। तब उनसे कहा गया कि वे तो परब्रह्म भगवान् ही थे। अत में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर बिसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपथी कनफटे से दीक्षा ली। इसके सबध में उनके ये वचन हैं—

मन मेरी सुई, तन मेरा धागा।
खेचर जी के चरण पर नामा सिपी लागा॥

सुफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसार सुख अतर दीना।
ज्ञान दान मोको गुरु दीना। राम नाम बिन जीवन हीना॥

किसु हूँ पूजूँ दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव। दूजे पाथर धरिए पाव।
जे वो देव तो हम भी देव। कहै नामदेव हम हरि की सेव॥

यह बात समझ रखनी चाहिए कि नामदेव के समय में ही देवगिरि पर पठानों की चढाइयाँ हो चुकी थीं और मुसलमान महाराष्ट्र में भी फैल गए थे। इसके पहले ही गोरखनाथ के अनुयायी हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिये अतस्साधना के एक सामान्य मार्ग का उपदेश देते आ रहे थे।

इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं, जैसे—बिठोबा (ठाकुरजी) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना, अविद

नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' इनकी इस सगुणोपासना के कुछ पद नीचे दिए जाते हैं जिनमें सगरी केवट आदि की सुगति तथा भगवान् की अवतार-लीला का कीर्त्तन बड़े प्रेमभाव से किया गया है—

अंबरीष को दियो अभयपद, राज बिभीषन अधिक करयो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहिं, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टरयो॥
भगत हेत मारयो हरनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।
नामा कहै भगति-बस केसव, अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

—

दसरथ राय नंद राजा मेरा रामचंद।
प्रणवै नामा तत्त रस अमृत पीजै॥

× × ×

धनि धनि मेघा रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढ़ै कावँली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती॥
धनि धनि बनखँड वृंदावना, जहँ खेलै श्रीनारायना।
बेनु बजावै गोधन चारै, नामे का स्वामि आनँद करै॥

यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना-संबंधी हृदय प्रेरित रचना। आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए—

माइ न होती, बाप न होते, कर्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया॥
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया।
सास्त्र न होता, वेद न होता, करम कहाँ ते आया॥

× × × ×

पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लै करि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी॥

पाँडे तुम्हरा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पाँडे तुम्हरा रामचंद सो भी आवत देखा था॥
रावन सेती सरवर होइ घर की जोय गँवाई थी।
हिंदू अंधा तुरकौ काना, दुवौ ते ग्यानी सयाना॥
हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोइ सेविया जहँ देहरा न मसीत॥

सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिये सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिये छोड़ देता है। सब सगुणमार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूप के साथ साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आए हैं जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते। नामदेव क्यों प्रवृत्त हुए, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। जब कि उन्होंने एक गुरु से ज्ञानोपदेश लिया तब शिष्यधर्मानुसार उसकी उद्धरणी आवश्यक हुई।

नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ़ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो ब्रज या परंपरागत काव्य-भाषा है, पर 'निर्गुन बानी' की भाषा नाथपंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा।

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग निकालनेवाले नाथपंथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं

भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना अवतार और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा) नमाज रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म माया जीव अनहदनाद सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्ति काव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक समानांतर चलती रहीं। भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा की कुछ विस्तृत रचना पहलेपहल कबीर ही की मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतों का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफियों की)।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योग-साधना को लेकर तथा उसमें सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण के खंडन में उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंबरी मत बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन में रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और

ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो-एक प्रतिभा संपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करनेवाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्म-सुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान में रखकर।

दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गी-सूफी-कवियों की है जिनकी प्रेम-गाथाएँ वास्तव में साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम-कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घर बार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।

हमारा अनुमान है कि सूफ़ी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिंदुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें

आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू है। मनुष्य के साथ पशुपक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति-सूत्र में बद्ध दिखाकर एक अखंड जीवन-समष्टि का आभास देना हिंदू-प्रेम-कहानियों की विशेषता है। मनुष्य के घोर दुःख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं पक्षी भी संदेसे पहुँचाते हैं। यह बात इन कहानियों में भी मिलती है।

शिक्षितों और विद्वानों की काव्यपरंपरा में यद्यपि अधिकतर आश्रयदाता राजाओं के चरितों और पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों की ही प्रवृत्ति थी पर साथ ही कल्पित कहानियों का भी चलन था इसका पता लगता है। दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (संवत् १५४६—१५७४) के समय में कवि ईश्वरदास ने 'सत्यवतीकथा' नाम की एक कहानी दोहे-चौपाइयों में लिखी थी जिसका आरंभ तो व्यास-जनमेजय के संवाद से पौराणिक ढंग पर होता है, पर जो अधिकतर कल्पित, स्वच्छंद और मार्मिक मार्ग पर चलनेवाली है। वनवास के समय पांडवों को मार्कंडेय ऋषि मिले जिन्होंने यह कथा सुनाई—

मथुरा के राजा चंद्र-उदय को कोई संतति न थी। शिव की तपस्या करने पर उनके वर से राजा को सत्यवती नाम की एक कन्या हुई। वह जब कुमारी हुई तब नित्य एक सुंदर सरोवर में स्नान करके शिव का पूजन किया करती। रतिपति नाम एक राजा के ऋतुवर्ण आदि चार पुत्र थे। एक दिन ऋतुवर्ण शिकार खेलते खेलते और उजाड़ में भटक गया। एक स्थान पर उसे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा जिसकी शाखाएँ तीस कोस तक फैली थीं। उसपर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उसे एक सुंदर सरोवर दिखाई पड़ा जिसमें कई कुमारियाँ स्नान कर रही थीं। वह जब उतरकर वहाँ गया तब सत्यवती का देख मोहित हो गया। कन्या का मन भी उसे देख कुछ डोल गया। ऋतुवर्ण जब उसकी ओर एकटक ताकता रह गया तब सत्यवती को क्रोध आ गया और उसने यह कहकर कि—

एक चित्त हमें चितवै जस जोगी चित जोग ।
धरम न जानसि पापी, कहसि कौन तैं लोग ॥

शाप दिया कि 'तू कोढी और व्याधिग्रस्त हो जा।'

ऋतुवर्ण वैसा ही हो गया और पीड़ा से फूट फूट कर रोने लगा—

रोवै ब्याधी बहुत पुकारी । छोहन्ह मिछ रोवें सब झारी ॥
बाघ सिंह रोवत वन माहीं । रोवत पछी बहुत ओनाहीं ॥

यह व्यापक विलाप सुनकर सत्यवती उस कोढी के पास आती है; पर वह उसे यह कहकर हटा देता है कि 'तुम जाओ, अपना हँसो खेलो।' सत्यवती का पिता राजा एक दिन जब उधर से निकला तब कोढी के शरीर से उठी दुर्गंध से व्याकुल हो गया। घर आकर उस दुर्गंध की शांति के लिये राजा ने बहुत दान-पुण्य किया। जब राजा भोजन करने बैठा तब उसकी कन्या वहाँ न थी। राजा कन्या के बिना भोजन ही न करता था। कन्या को बुलाने जब राजा के दूत गए तब वह शिव की पूजा छोड़कर न आई। इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर दूतों से कहा कि सत्यवती को जाकर उसी कोढी को सौंप दो। दूतों का वचन सुनकर कन्या नीम की टहनी लेकर उस कोढी की सेवा के लिये चल पड़ी और उससे कहा—

तोहि छाँड़ि अब मैं कित जाऊँ । माइ बाप सौंपा तुव ठाऊँ ॥

कन्या प्रेम से उसकी सेवा करने लगी और एक दिन उसे कंधे पर बिठाकर प्रभावती तीर्थस्नान कराने ले गई, जहाँ बहुत से देवता, मुनि, किन्नर आदि निवास करते थे। वहाँ जाकर सत्यवती ने कहा "यदि मैं सच्ची सती हूँ तो रात हो जाय।" इस पर चारों ओर घोर अंधकार छा गया। सब देवता तुरत सत्यवती के पास दौड़े आए। सत्यवती ने उनसे ऋतुवर्ण को सुंदर शरीर प्रदान करने का वर माँगा। व्याधि-ग्रस्त ऋतुवर्ण ने तीर्थ में स्नान किया और उसका शरीर निर्मल हो गया। देवताओं ने वहीं दोनों का विवाह करा दिया।

ईश्वरदास ने ग्रंथ के रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भादौं मास पाख उजियारा। तिथि नौमी औ मंगलवारा।
नखत अस्विनी, मेष क चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा।
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना। साह सिकंदर बड़ सुलताना।
[illegible] बैठ सरसुती सिखा गनपति दीन्ह।
ता दिन कथा आरंभ यह ईसरदास कवि कीन्ह।

पुस्तक में पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर एक एक दोहा है। इस प्रकार ५८ दोहे पर यह समाप्त हो गई है। भाषा अयोध्या के आस-पास की ठेठ अवधी है। 'बाटै' (= है) का प्रयोग जगह जगह है। यही अवधी भाषा चौपाई-दोहे का क्रम और कहानी का रूप-रंग सूफी कवियों ने ग्रहण किया। आख्यान-काव्यों के लिये चौपाई-दोहे की परंपरा बहुत पुरानी (विक्रम की ११ वीं सदी के) जैन चरित-काव्यों में मिलती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है*।

सूफियों के प्रेम-प्रबंधों में खंडन मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं वे बड़े हृदयग्राही होते हैं। कबीर में जो रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर है जो वेदांत और हठयोग में निर्दिष्ट हैं। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों ने जिस रहस्यवाद का आभास बीच बीच में दिया है उसके संकेत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी हैं। शुद्धप्रेममार्गी सूफी कवियों की शाखा में सबसे प्रसिद्ध जायसी हुए जिनकी 'पद्मावत' हिंदी-काव्यक्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है। इस संप्रदाय के सब कवियों ने पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी का व्यवहार किया है जिसमें गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपना रामचरितमानस लिखा है।

* देखो पृ० ८।

अपना भावात्मक रहस्यवाद लेकर सूफी जब भारत में आए तब यहाँ उन्हें केवल साधनात्मक रहस्यवाद योगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में मिला। रसेश्वर दर्शन का उल्लेख 'सर्वदर्शन-संग्रह' में है। जायसी आदि सूफी कवियों ने हठयोग और रसायन की कुछ बातों को भी कहीं कहीं अपनी कहानियों में स्थान दिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा में कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर की ही मिलती है, अत पहले निर्गुण संप्रदाय की 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है जिसमें सर्वप्रथम कबीरदासजी सामने आते हैं।

प्रकरण २

निर्गुणधारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

कबीर—इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कहते हैं काशी में स्वामी रामानंद का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामीजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का एक जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ। कबीर का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना जाता है। कहते हैं कि आरंभ से ही कबीर में हिंदू-भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उसके पालनेवाले माता-पिता न दबा सके। वे 'राम राम' जपा करते थे और कभी कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस समय में स्वामी रामानंद का प्रभाव खूब बढ़ रहा था और छोटे बड़े ऊँच नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही पड़ने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। रामानंदजी के माहात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय में शिष्य होने की लालसा जगी होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस (पंचगंगा) घाट की सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से रामानंदजी स्नान करने के लिए उतरा करते थे। स्नान को जाते

समय अँधेरे में रामानंदजी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानंदजी चट बोल उठे "राम राम कह"। कबीर ने इसी को गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंदजी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग भी रखते थे और जुलाहे का काम भी करते थे।

कबीरपंथ में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फ़कीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफ़ी फ़कीर को ही कबीर का गुरु मानते हैं।* आरंभ से ही कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अत उन दिनों, जब कि रामानंदजी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी रामानंदजी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान पान

---

* ऊजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है, जैसे, "घटघट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे।

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार नहीं थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे।

सेख अकरदी सकरदी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दीठि पसार॥

का आकार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया, हठयोगियों तथा सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया। अतः उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। अद्वैतवाद के स्थूल रूप का कुछ परिचय उन्हें रामानंदजी के सत्संग से पहले ही से था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए, वे ब्रह्म के पर्याय हुए—

"दसरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥"

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की सी साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुन बानी' कहलाती है पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसी लिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, जैसे—

पंडित मिथ्या करहु बिचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा॥
जोति-सरूप काल नहिं उहँवा, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

आपुहि देवा आपुहि पाती । आपुहि कुल आपुहि है जाती ।

और कहीं सोपाधि ईश्वर की, जैसे—

साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय ।

साराश यह कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिंदू-शास्त्रों की हैं जिनका सचय उन्होंने रामानदजी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्टमैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्सग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे, जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के संबंध में वे कहते हैं—

तत्वमसी इनके उपदेसा । ई उपनीषद कहैं सँदेसा ।
जागबलिक औ जनक सँवादा । दत्तात्रेय वहै रस स्वादा ॥

यही तक नहीं, वेदातियों के कनक-कुंडल-न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है—

गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज, एक पूजा ॥

इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे, चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं, जैसे—

सूर समाना चंद में दहूँ किया घर एक ।
मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख ॥
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि ।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला, आदि बिचारि ॥

वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफ़ी फ़कीरों को भी मान्य हुआ। हिंसा के लिए वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥
अपनी देखि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया॥
बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधु-संन्यासियों से ग्रहण कीं जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी खरी सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था, जैसे—

है कोई गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा—

नैया बिच नदिया डूबी जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर

प्रेम की व्यजना सूफियों में बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित हुई थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्सग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक, जैसे—

मुझको क्या तू ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में।

अथवा—

साईं के सँग सासुर आई।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जोबन सपने की नाईं॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लबी चौडी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी कहते थे। कबीर ने मगहर में जाकर शरीर-त्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल सवत् १५७५ माना जाता है, जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने सवत् १५२१ में किया था जब कि उनके गुरु की अवस्था ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका अब तक पता लगा है, सवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का सग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांत-तत्त्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, ससार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि,

ऐसा जान पड़ता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानद के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद में इन्होंने कबीर और सेन नाई दोनों के तरने का उल्लेख किया है—

नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे सतहु ! हरि जिउ तें सबहि सरै।

कबीरदास के समान रैदास भी काशी के रहनेवाले कहे जाते हैं। इनके एक पद से भी यही पाया जाता है—

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवत
फिरहिं अजहुं बानारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहिं डडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

रैदास का नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ लिया है। रैदास की भक्ति भी निर्गुन ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान् को सब में व्यापक देखते हैं—

थावर जगम कीट पतगा पूरि रह्यो हरिराई।

और कहीं कबीर की तरह परात्पर की ओर सकेत करके कहते हैं—

गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके।

रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है। 'साधो' का एक सप्रदाय, जो फर्रुखाबाद और थोड़ा बहुत मिरजापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परपरा में कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी स्थापना (सवत् १६००) करनेवाले बीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास रैदास के शिष्यों में माने जाते हैं।

रैदास का कोई ग्रथ नहीं मिलता, फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से 'सतबानी सीरीज' में संग्रहीत हैं। चालीस पद तो 'आदि गुरुग्रथ साहब' में दिए गए हैं। कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दूध त बछरै थनहु बिटारेउ। फूलु भँवर, जलु मीन बिगारेउ।
माई, गोबिंद पूजा कहा लै चरावउँ। अवरु त फूल अनूपु न पावउँ।
मलयागिर बेरे रहे हैं भुअगा। बिषु अमृत बसहीं इक सगा।

तन मन अरपउँ, पूज चढ़ाउँ। गुरु परसादि निरंजन पाउँ।
पूजा अरचा आहि न तेरी। कह रविदास कवनि गति मोरी॥
अविगत जिते नाहि, का कह कहिए, कैसे न कहँ समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लौ लाय समाई॥
चंद सूर नहिं, राति दिवस नहिं, धरनि अकास न भाई।
करम अकरम नाहिं, सुभ असुभ नाहिं, का कहि देहुँ बड़ाई॥

—

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू ही, मैं नाहीं।
अनल अगम जैसे लहरि मइ उदधि, जल केवल जल माहीं॥

—

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा। जैसा मानिय होय न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुख पाया सो गति भई हमारी॥

धर्मदास—ये बाँधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिए थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग दर्शन पूजा तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनों संत-समाज में कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्तिपूजा तीर्थाटन देवार्चन आदि का खंडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत मत' की ओर हुआ। अंत में ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों में हो गए और संवत् १५७५ में कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी लुटा दी। ये कबीरदास की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है; उसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार

किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै करि जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन बन ढूँढ़ौं, हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो॥
संग की सखी सब पार उतरि गइलीं, हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

गुरु नानक—गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानकजी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। सं० १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ। सुलक्षणी से इनके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्योग किया पर ये सांसारिक व्यवहारों में दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ धन दिया जिसको इन्होंने साधुओं और गरीबों को बाँट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था।

लोग बहुत से देवी-देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानों के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा में कबीर द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण संतमत' एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घरबार छोड़ बहुत दूर दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होंने पंजाब में आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर वे जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रंथ साहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्यभाषा हिंदी में हैं। यह हिंदी कहीं तो देश की काव्यभाषा या ब्रजभाषा है कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं; जैसे—चल्या रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा में कहे गए हैं कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े-मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। इनका देहांत संवत् १५९६ में हुआ। संसार की अनित्यता भगवद्भक्ति और संत स्वभाव के संबंध में उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं—

इस दम दा मैनू कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिँ दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निसदिन राम चरन चित लाया॥

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिँ जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिँ मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिँ न तेहि घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सो ज्यों पानी सँग पानी॥

दादूदयाल—यद्यपि सिद्धांत-दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं। इनकी जाति के संबंध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति कथा से मिलती-जुलती दादूदयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादूपंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं। दादूदयाल का गुरु कौन था, यह ज्ञात नहीं। पर कबीर का इनकी बानी में बहुत जगह नाम आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर में रहे। वहाँ से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत् १६५९ में नराना में (जयपुर से

रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर ॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ ॥
जब मन लागे राम सौं तब अनत काहे को जाइ ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसै रहै समाइ ॥

भाई रे ! ऐसा पंथ हमारा ।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा ।
बाद विवाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा ॥
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप विचारा ।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरवैरी निरविकारा ॥
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा ।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

सुंदरदास—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ६ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान (जयपुर राज्य) में उत्पन्न हुए थे । इनके पिता का नाम परमानंद और माता का सती था । जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा में गए थे । तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गए और उनके साथ रहने लगे । संवत् १६६० में दादूदयाल का देहांत हुआ । तब तक ये नराना में रहे । फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा में आ गए । वहाँ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए । वहाँ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदांत और पुराण आदि पढ़ते रहे । संस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे । काशी से लौटने पर ये राजपूताने के फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान में आ रहे । वहाँ के नवाब अलिफ़खाँ इन्हें बहुत मानते थे । इनका देहांत कार्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ में साँगानेर में हुआ ।

इनका डील-डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था । स्वभाव अत्यंत कोमल और मृदुल था । ये बालब्रह्मचारी थे,

और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे। निर्गुणपंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बहुत से पद कहे हैं। और संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। यों तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रंथ हैं पर 'सुंदरविलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसमें कवित्त, सवैये ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयों में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। संत तो ये थे ही पर कवि भी थे इससे समाज की रीति नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं जैसे गुजरात पर—"आभड़ छोत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँडी"; मारवाड़ पर—'वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू'। दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज न आवत लाज करैं सब भच्छन" पूरब देस पर—"ब्राह्मन क्षत्रिय वैसरु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्यो, पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटाँग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनतही मनै जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुणवादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् हैं—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ क्षेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है॥

सुनत नगारे चोट बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन में।
फेरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में॥
कूदि कै पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावत के गन में।
मारि घमसान करि सुंदर जुहारै स्याम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाय रन में॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टितत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल हैं। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमें ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्व पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भई,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

मलूकदास—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतों में हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक में कायम हुईं। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियों का यह मूलमंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञानबोध। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देने में प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और

अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ी बोली का पुट इन सब संतों की बानी में एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियों का सा पद विन्यास और कवित्त आदि छंद भी पाए जाते हैं। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली में हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गंध्रब हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे॥
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे॥

नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए अति गाफिल गंदे॥
कबहुँ न करते बंदगी, दुनियाँ में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ़ फूले॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे॥
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहिं पाया॥
छत्तिस पवन हमारी जाति। हमहीं दिन औ हमहीं राति॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा, हमहीं गंगा॥
हमहीं मुल्ला, हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी॥
हमहीं दसरथ, हमहीं राम। हमरै क्रोध औ हमरै काम॥
हमहीं रावन, हमहीं कंस। हमहीं मारा अपना बंस॥

अक्षर अनन्य—संवत् १७१० में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना

के लिये इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पाँव पसारा कब से ?" चट उत्तर मिला— "हाथ समेटा तब से"। ये विद्वान् थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ राजयोग, विज्ञानयोग ध्यानयोग सिद्धांतबोध विवेकदीपिका ब्रह्मज्ञान अनन्य प्रकाश आदि लिखे और दुर्गा-सप्तशती का भी हिंदी पद्यों में अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

> यह भेद सुनौ पृथिचंदराव। सत साधु को साधन उपाव॥
> यह लोक हरै दुख दुंद ताम। परलोक सधै सब सकलकाम॥
> परलोक लोक दोउ सधै जाम। सोइ राजयोग सिद्धांत नाम॥
> निज राजयोग ज्ञानी करंत। हठि मूढ़ धर्म साधन जपंत॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। *शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर* साम्प्रदायिकों के ही काम की है। उसमें मानवजीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जनसमाज को आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतों की परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ भी निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में *जगजीवनदास या जगजीवन* साहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होंने अपना एक अलग 'सत्यनामी' सम्प्रदाय चलाया। इनकी बानी में साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलनदास हुए जिन्होंने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तोवरदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब गोविंद साहब भीखा साहब पलटू साहब आदि अनेक संत हुए हैं। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतों की बानियाँ प्रकाशित की हैं।

निर्गुण-पथ के संतों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता ही प्रकट करेगा। उनमें जो थोड़ा बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवों की न्यूनता या अधिकता के कारण जिनका मेल करके निर्गुण पथ चला है। जैसे, किसी में वेदांत के ज्ञानतत्त्व का अवयव अधिक मिलेगा, किसी में योगियों के साधना-तत्त्व का, किसी में सूफियों के मधुर प्रेमतत्त्व का और किसी में व्यावहारिक ईश्वरभक्ति (कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। यह दिखाया जा चुका है कि निर्गुणपथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञान-पक्ष है वह वेदांत से लिया हुआ है, जो प्रेमतत्त्व है वह सूफ़ियों का है, न कि वैष्णवों का*। 'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमें नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। बौद्धधर्म के अष्टांगमार्ग के अंतिम मार्ग हैं— सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। 'सम्यक् स्मृति' वह दशा है जिसमें क्षण क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी शृंखला बँध जाती है। 'समाधि' में साधक सब संवेदनों से परे हो जाता है। अत 'सुरति' 'निरति' शब्द योगियों की बानियों से आए हैं, वैष्णवों से उनका कोई संबंध नहीं।

———

* देखो पृ० ७३ (अंतिम पैरा)।

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होंने प्रेमगाथाओं के रूप में उस प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियों का अब वर्णन किया जाता है—

कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत् १५५०) था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८) में लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है चंद्रगिरि के राजा गणपतिदेव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरांत राजकुमार उसके पास तक पहुँचा। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी

एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने रुक्मिनी नाम की एक सुन्दरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुन्दरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अन्त में राजकुमार उस नगर में पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२ वर्ष रहा। पता लगने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिये दूत भेजा। राजकुमार पिता का सँदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पडा और उसने मार्ग में रुक्मिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनों तक आनन्द-पूर्वक रहा पर अंत में आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनंद के साथ सती हो गईं—

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

मंझन—इनके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के उपरांत एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही हैं। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना के लिये प्रकृति के भी अधिक दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप में नीचे दी जाती है।

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातो रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। वहाँ जागने पर दोनों का साक्षात्कार हुआ और दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा—"मेरा अनुराग तुम्हारे

प्यार कई जन्मों का है इससे जिस दिन मैं इस संसार में आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनों एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनों जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम में बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग में तूफान आया जिसमें इष्ट-मित्र इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जंगल में जा लगा जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलँग पर बैठी दिखाई पड़ी। पूछने पर जान पड़ा कि वह चितबिसरामपुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है मैं उसे तुमसे मिला दूँगी। मनोहर को लिए हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा वह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का मिलाप करा दिया। सवेरे रूपमंजरी ने चित्रसारी में जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जागने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान में पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और विलाप करने लगी पर मधुमालती का कहीं पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुंदरता देख उसे

पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद उसे एक सोने के पिजरे में रखा। एक दिन पक्षी मधुमालती ने प्रेम की सारी कहानी ताराचद से कह सुनाई जिसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अत में वह उस पिजरे को लेकर महारस नगर में पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसने मत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता-पिता ने ताराचद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मैं जैसे होगा वैसे मनोहर से मिलाऊँगा।" मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा लिखती है। वह दोनों पत्रों को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने में उसकी एक सखी आकर सवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश में आ पहुँचा है। मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल बल के साथ राजा चित्रसेन (प्रेमा के पिता) के नगर में जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचद तीनों बहुत दिनों तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते हैं। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचद प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्च्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार में लग जाती हैं।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और ताराचद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ

ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति अपूर्व संयम और निष्काम भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मांतर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्त्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेममूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी उन रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं जैसा कि मंझन करते हैं —

> देखत ही पहिचानेउ तोही। एही रूप जेहि छँदर्‌यो मोही ॥
> एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना ॥
> एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ ॥
> एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा ॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नहीं खुल सकतीं—

> बिरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा ॥
> बिरह कि जगत अँबिरथा जाही? बिरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥
> नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा ॥
> कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई ॥
> रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज कोइ।
> चँदन कि बन बन ऊपजै, बिरह कि तन तन होइ?॥

जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेममार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों में पाए जाते हैं। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निश्चित है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५ और १५९५ (पद्मावत का रचना-काल) के

बीच में और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सब से प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ 'पदमावत' में जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यों का संक्षेप में उल्लेख किया है—

> विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
> मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
> राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
> साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
> प्रेमावति कहँ सुरबर साधा। ऊषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥

इन पद्यों में जायसी के पहले के चार काव्यों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नहीं मिले हैं। जिस क्रम से ये नाम आए हैं वह यदि रचनाकाल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

जायसी का जो उद्धरण दिया गया है उसमें मधुमालती के साथ 'मनोहर' का नाम नहीं है 'खंडावत' नाम है। 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः फ़ारसी अक्षरों में ही मिलती हैं। मैंने चार ऐसी प्रतियाँ देखी हैं जिन सब में नायक का ऐसा नाम लिखा है जिसे 'खंडावत, कुंदावत, कंडावत, गंधावत' इत्यादि ही पढ सकते हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति हिंदू-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ऐसी है जिसमें साफ़ 'मनोहर' पाठ है। उसमान की 'चित्रावली' में मधु-मालती का जो उल्लेख है उसमें भी कुँवर का नाम 'मनोहर' ही है—

> मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

यही नाम 'मधुमालती' की उपलब्ध प्रतियों में भी पाया जाता है।

'पदमावत' के पहले 'मधुमालती' की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में संवत् १६६० के आस-

पास की अपनी इश्क़बाज़ी वाली जीवनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "उस समय मैं हाट-बाज़ार में जाना छोड़ घर में पड़े-पड़े मृगावती और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था—

तब घर में बैठि रहै जागिन हाट-बजार।
मधुमालति, मृगावति, पोथी दोउ उचार॥

इसके उपरांत दक्खिन के शायर नसरती ने भी (संवत् १७ , 'मधुमालती' के आधार पर दक्खिनी उर्दू में 'गुलशने-इश्क़' के नाम से एक प्रेम-कहानी लिखी।

कवित्त-सवैया बनानेवाले एक 'मंझन' पीछे हुए हैं जिन्हें इनसे सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

मलिक मुहम्मद जायसी—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे और जायस में रहते थे। (इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' के नाम से फारसी अक्षरों में छपी मिली है।) यह सन् ९३६ हिजरी में (सन् १५२८ ईस्वी के लगभग) बाबर के समय में लिखी गई थी। इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। इस पुस्तक में मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने जन्म के संबंध में लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। जन्मकाल ९ हिजरी मानें तो दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३ वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होंने बनाए।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पद्मावत', जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ-बैन कवि कहा॥

इसका अर्थ होता है कि पद्मावत की कथा के प्रारंभिक वचन (अरब-बैन) कवि ने ९२७ हिजरी (सन् १५२१ ई. के लगभग)

में कहे थे। पर ग्रंथारंभ में कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहेवक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है—

> शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू।
> ओही छाज राज औ पाटू। सब राजै भुइँ धरा लिलाटू॥

शेरशाह के शासन का आरंभ ९४७ हिजरी अर्थात् सन् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा में यही समय जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। 'पदमावत' का एक बँगला अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था। उसमें भी 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है—

> शेख महम्मद जति जखन रचिल ग्रंथ संख्या सप्तविंश नवशत

पदमावत की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फ़ारसी अक्षरों में मिली हैं जिनमें 'सत्ताइस' और 'सैंतालिस' प्रायः एक ही तरह लिखे जायँगे। इससे कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि 'सैंतालिस' को लोगों ने भूल से सत्ताइस पढ़ लिया।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। जीवन के अंतिम दिनों में जायसी अमेठी से दो मील दूर एक जंगल में रहा करते थे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। क़ाज़ी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्युकाल ४ रजब ९४९ हिजरी लिखा है। यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।

ये काने और देखने में कुरूप थे। कहते हैं, शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था। इस पर ये बोले "मोहिका हँसेसि कि कोहरहि?" इनके समय में ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं—एक तो

प्रसिद्ध 'पदमावत', दूसरी 'अखरावट', तीसरी 'आखिरी कलाम'। 'अखरावट' में वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत-संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। 'आखिरी कलाम' में क़यामत का वर्णन है। जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पदमावत' जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या अध्यात्मपक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

'पदमावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परंपरा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी

में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पद्मावती की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पंडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ वन में उड़ता उड़ता एक बहेलिए के हाथ पड़ गया जिसने बाजार में लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा। एक दिन जब राजा शिकार को गया था तब उसकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बड़ा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार में मेरे समान सुंदरी भी कहीं है?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमें-तुममें दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे, उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं, अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध

हुआ तब सुआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत में वियोग से व्याकुल होकर उसकी खोज में घर से जोगी होकर निकल पड़ा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सुआ था और साथ में सोलह हजार कुँवर जोगियों के वेश में थे।

कलिंग से जोगियों का यह दल बहुत से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर में जोगियों के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सुए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम में विकल हुई। श्रीपंचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिये उस मंदिर में गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ। इस पर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ पर चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियों सहित गढ़ में घुसने लगा पर सवेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रत्नसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने में सोलह हजार जोगियों ने गढ़ को घेर लिया। महादेव हनुमान् आदि सारे देवता जोगियों की सहायता के लिये आ गए। गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। अंत में जोगियों के बीच शिव को पहचानकर गंधर्वसेन उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि "पद्मावती आपकी है जिसको चाहे दीजिए।" इस प्रकार रत्नसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनों के उपरांत दोनों चित्तौरगढ़ आ गए।

रत्नसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पंडितों को नीचा दिखाने के लिये उसने

एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चंद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कार्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में पहुँचा और उसने दान में पाए हुए पद्मावती के एक कगन को दिखाकर उसके रूप को ससार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा, जिसे पढकर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अत में उसने छलपूर्वक सधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा के साथ शतरज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण में देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई, पर तुरत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली में पहुँचे और बादशाह के यहाँ सवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोड़ी देर मिलकर तब आपके हरम में जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गई और उसमें से एक लोहार ने निकलकर राजा की बेड़ियाँ काट दीं। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोड़े पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियों के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी

में रत्नसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रत्नसेन ने कुंभलनेर का घेरा। लड़ाई में देवपाल और रत्नसेन दोनों मारे गए।

रत्नसेन का शव चित्तौर लाया गया। उसकी दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता में बैठ गईं। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर में पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कि कहा जा चुका है प्रेमगाथा की परंपरा में पद्मावत सबसे प्रौढ़ और सरस है। प्रेममार्गी सूफी कवियों की और कथाओं से इस कथा में यह विशेषता है कि इसके ब्योरों से भी साधना के मार्ग उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की जगह-जगह व्यंजना होती है जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबंध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही हैं। इसका पूर्वार्द्ध तो एकांत प्रेममार्ग का ही आभास देता है पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष का भी विधान है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौंदर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमें पाई जाती है। कुछ पद्य देखिए—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनंत सौंदर्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बड़े सुंदर संकेत किए हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि कै हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा। बिषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठाँवहि ठाँव बैठ बटपारा॥

उसमान—ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयों के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होंने अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी में 'चित्रावली' नाम की पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैगंबर और चार खलीफों की, बादशाह (जहाँगीर) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता बिधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा॥
देखत जगत चला सब जाई। एक बचन पै अमर रहाई॥

बरन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाए कवि अमर रहाहीं॥
सोई बाउ लहइ पुनि सोई। तेहि अमर वह अमरित पीई॥

कवि ने 'जोगी ढूँढन खंड' में काबुल बदख्शाँ खुरासान रूम साम मिस्र इस्तंबोल गुजरात सिंहलद्वीप आदि अनेक देशों का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियों का अँगरेजों के द्वीप में पहुँचना—

बलंदीप देखा अँगरेजा। तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा॥
ऊँच नीच धन संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

कवि ने इस रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कहीं कहीं तो शब्द और वाक्यविन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है।

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई॥

कथा का सारांश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत-पालन करके शिव-पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक पुत्र प्राप्त किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार में मार्ग भूल देव (प्रेत) की एक मढ़ी में जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमार को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रखा और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख उस पर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी में रख आए। जागने पर कुमार को चित्रवाली घटना स्वप्न सी मालूम

हुई, पर हाथ में रंग लगा देख उसके मन में घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रावली के प्रेम में विकल हो गया। इसी बीच में उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यंत खिन्न और व्याकुल रहता। अंत में अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढी में गया और वहाँ बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम में विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यों को, जोगियों के वेश में, राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमार का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियों में से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमंदिर में उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अंधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निगल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक बनमानुस ने उसे एक अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यों की त्यों हो गई। वह जंगल में घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्रतट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता-फिरता कुमार सागर-गढ नामक नगर में पहुँचा और राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। राजकुमारी जब सखियों के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसने उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच में सोहिल नाम का कोई राजा कँवलावती के

उस की प्रशंसा सुन उसे मात करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत में सुजान कुमार ने कौलावती से चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके, विवाह कर लिया। कौलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक योगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और वह चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा और सागरगढ़ में धूई रमाकर बैठा। कुमार सुजान उस योगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा में जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए, जिन्हें सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने चार चित्रकारों को भिन्न भिन्न देशों के राज कुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह योगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का समाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार देखकर रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही में कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा पर उसने उसे मार डाला। इस पर राजा उस पर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने में भेजे हुए चार चित्रकारों में से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले पराक्रमी सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी यही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों में सागरगढ़ की कौलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर

की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इस पर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग में कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अत में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनों रानियों सहित बहुत दिनों तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेवजी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देस हौं आपन असा। अब तोरे होइहौं निज बसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान् है। साधन-काल में अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढँग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर सकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढती हैं और नहीं पाती हैं—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रही। चित्रिनि खोज न पावा कहीं॥
निकसी तीर भई बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागी॥
गुपुत तोहि पावहिं का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न देखहिं काहीं॥
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, और बहु पढ़े गरंथ॥

विरह-वर्णन के अंतर्गत षड्ऋतु का वर्णन सरल और मनोहर है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
एतिपति-दुरद ऋतुपती बली। कानन-देह मम दलमली॥

शेख नबी—ये जौनपुर जिले में दोसपुर के पास मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६७६ में जहाँगीर के समय में वर्तमान थे। इन्होंने "ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र में जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य-काल के पीछे भी कुछ दिनों तक समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी बहुत होती रहती हैं, पर उनके बीच कालांतर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेख नबी से प्रेम-गाथा-परंपरा समाप्त समझनी चाहिए। 'ज्ञानदीप' के उपरांत सूफियों की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गईं उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

कासिमशाह—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और संवत् १७८८ के लगभग वर्तमान थे। इन्होंने "हंस जवाहिर" नाम की कहानी लिखी जिसमें राजा हंस और रानी जवाहिर की कथा है।

फ़ारसी अक्षरों में छपी (नामी प्रेस, लखनऊ) इस पुस्तक की एक प्रति हमारे पास है। उसमें कवि ने शाहे वक्त का इस प्रकार उल्लेख करके—

मुहमदसाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि केर बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजू। नावहिं सीस जगत के राजू॥
रूपवंत दरसन मुँह राता। भागवंत ओहि कीन्ह बिधाता॥
दरबवंत धरम महँ पूरा। ज्ञानवंत खड्ग महँ सूरा॥

अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ। अमानुल्ला पिता कर नाऊँ॥
तहवाँ मोहिं जनम बिधि दीन्हा। कासिम नावँ जाति कर हीना॥
तेहूँ बीच बिधि कीन्ह कमीना। ऊँच सभा बैठे चित दीना॥
ऊँचे संग ऊँच मन भावा। तब भा ऊँच ज्ञान-बुधि पावा॥
ऊँचा पंथ प्रेम का होई। तेहि महँ ऊँच भए सब कोई॥

कथा का सार कवि ने यह दिया है—

कथा जो एक गुपुत महँ रहा। सो परगट उघारि मैं कहा॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा। निरमल रूप सो दई सँवारा॥
बलख नगर बुरहान सुलतानू। तेहि घर हंस भए जस भानू॥
आलमसाह चीनपति भारी। तेहि घर जनमी जवाहिर बारी॥
तेहि कारन वह भएउ बियोगी। गएउ सो छाँड़ि देस होइ जोगी॥
अंत जवाहिर हंस घर आनी। सो जग महँ यह गयउ बखानी॥
सो सुनि ज्ञान-कथा मैं कीन्हा। लिखेउँ सो प्रेम, रहै जग चीन्हा॥

इनकी रचना बहुत निम्न कोटि की है। इन्होंने जगह जगह जायसी की पदावली तक ली है, पर प्रौढ़ता नहीं है।

नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे और 'सबरहद' नामक स्थान के रहनेवाले थे जो जौनपुर ज़िले में जौनपुर-आज़मगढ़ की सरहद पर है। पीछे सबरहद से ये अपनी ससुराल भादों (ज़िला आज़मगढ़) चले गए। इनके श्वशुर शमसुद्दीन को और कोई वारिस न था इससे ये ससुराल ही में रहने

लगे। नूरमुहम्मद के भाई मुहम्मद शाह सबरहद ही में रहे। नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए—गुलाम हसनैन और नसीरुद्दीन। नसीरुद्दीन की वंश-परंपरा में शेख फिदाहुसैन अभी वर्तमान हैं जो सबरहद और कभी कभी भादों में भी रहा करते हैं। अवस्था इनकी ८ वर्ष की है।

नूरमुहम्मद फारसी के अच्छे आलिम थे और इनका हिंदी काव्यभाषा का भी ज्ञान और सब सूफी कवियों से अधिक था। फारसी में इन्होंने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौजतुल हकायक' इत्यादि बहुत सी किताबें लिखी थीं जो असावधानी के कारण नष्ट हो गईं। इन्होंने ११५७ हिजरी (संवत् १८ १) में 'इंद्रावती' नामक एक सुंदर आख्यान-काव्य लिखा जिसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहम्मदशाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू। है सूरज देहली सुलतानू॥
धरमपंथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सों दुख पावा॥
बहुतै सलातीन जग केरे। आइ सहास बने हैं चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है—

मन-दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहिं सब संसारा॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ॥
कहा अहैं राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुँवर गियानी॥
आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरांत दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रंथ को सूफी पद्धति का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

इनका एक और ग्रंथ फ़ारसी अक्षरों में लिखा मिला है जिसका नाम है 'अनुराग बाँसुरी'। यह पुस्तक कई दृष्टियों से विलक्षण है। पहली बात तो इसकी भाषा है जो और सब सूफ़ी-रचनाओं से बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित है। दूसरी बात है हिंदी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव। 'इंद्रावती' की रचना करने पर शायद नूरमुहम्मद को समय समय पर यह उपालंभ सुनने को मिलता था कि "तुम मुसलमान होकर हिंदी-भाषा में रचना करने क्यों गए"। इसी से 'अनुराग-बाँसुरी' के आरंभ में उन्हें यह सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ॥
मन इसलाम मिरिकिलैं माँजेउँ। दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावनहारा॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवै॥

इसका तात्पर्य यह है कि संवत् १८०० तक आते आते मुसलमान हिंदी से किनारा खींचने लगे थे। हिंदी हिंदुओं के लिये छोड़ कर अपने लिखने-पढ़ने की भाषा वे विदेशी अर्थात् फ़ारसी ही रखना चाहते थे। जिसे 'उर्दू' कहते हैं उसका उस समय तक साहित्य में कोई स्थान न था इसका स्पष्ट आभास नूरमुहम्मद के इस कथन से मिलता है—

कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा॥
छाँड़ि पारसी कंद नवातैं। अरुझाना हिंदी रस-बातैं॥

'अनुराग-बाँसुरी' का रचना-काल ११७८ हिजरी अर्थात् संवत् १८२१ है कवि ने इसकी रचना अधिक पांडित्यपूर्ण रखने का प्रयत्न किया है और विषय भी इसका तत्त्वज्ञान-संबंधी है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है। और सब सूफ़ी कवियों की कहानियों के बीच बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं। एक विशेषता और है।

के पक्के अनुयायी थे। अत वे अपने इस ग्रथ की प्रशंसा इस ढग से करते हैं—

यह बाँसुरी सुनै सो कोई। हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई॥
निसरत नाद बारुनी साथा। सुनि सुधि चेत रहै केहि हाथा॥
सुनतै जौ यह सबद मनोहर। होत अचेत कृष्ण मुरलीधर॥
यह मुहम्मदी जन की बोली। जामें कंद नबात घोली॥
बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परै॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। सखनाद की रीति मिटावै॥
जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मगल, कष्ट नसात॥

सूफी आख्यान-काव्यों की अखडित परपरा की यहीं समाप्ति मानी जा सकती है। इस परपरा में मुसलमान कवि ही हुए हैं। केवल एक हिंदू मिला है। सूफी मत के अनुयायी सूरदास नामक एक पंजाबी हिंदू ने शाहजहाँ के समय में 'नल-दमयती कथा' नाम की एक कहानी लिखी थी। पर इसकी रचना अत्यत निकृष्ट है।

साहित्य की कोई अखड परपरा समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक उस परपरा की कुछ रचनाएँ इधर-उधर होती रहती हैं। इस ढग की पिछली-रचनाओं में 'चतुर्मुकुट की कथा' और 'यूसुफ़-जुलेखा' उल्लेख-योग्य हैं।

———

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति-शाखा

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य्य जी ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिये जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य्यजी (सं० १०७३) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिये उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य-लाभ करने का यत्न करें। रामानुजजी की शिष्य-परंपरा देश में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होती रही। रामानुजजी के श्री संप्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना है। इस संप्रदाय में अनेक अच्छे साधु महात्मा बराबर होते गए।

विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंत में वैष्णव श्री संप्रदाय के प्रधान आचार्य्य श्री राघवानंदजी काशी में रहते थे। अपनी अधिक अवस्था होते देख वे बराबर इस चिंता में रहा करते कि मेरे उपरांत संप्रदाय के सिद्धांतों की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी। अंत में स्वामी रामानंदजी को दीक्षा प्रदान कर निश्चिंत हुए और थोड़े दिनों में परलोकवासी हुए। कहते हैं कि रामानंदजी ने सारे भारतवर्ष का पर्यटन करके अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

स्वामी रामानदजी के समय के सबध में कहीं कोई लेख न मिलने से हमें उसके निश्चय के लिये कुछ आनुषगिक बातों का सहारा लेना पड़ता है। वैरागियों की परपरा में रामानदजी का मानिकपुर के शेख़ तकी पीर के साथ वाद-विवाद होना माना जाता है। ये शेख़ तकी दिल्ली के बादशाह सिकदर लोदी के समय में थे। कुछ लोगों का मत है कि वे सिकंदर लोदी के पीर (गुरु) थे और उन्हीं के कहने से उसने कबीर साहब को जजीर से बाँधकर गगा में डुबाया था। कबीर के शिष्य धर्मदास ने भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

साह सिकदर जल में बोरे, बहुरि अग्नि परजारे।
मैमत हाथी आनि झुकाए, सिंहरूप दिखराए।
निरगुन कथैं, अभयपद गावैं, जीवन को समझाए।
काजी पंडित सबै हराए, पार कोउ नहिं पाए॥

शेख़ तकी और कबीर का सवाद प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि रामानदजी दिल्ली के बादशाह सिकदर लोदी के समय में वर्त्तमान थे। सिकदर लोदी संवत् १५४६ से सवत् १५७४ तक गद्दी पर रहा। अतः इन २८ वर्षों के काल-विस्तार के भीतर—चाहे आरंभ की ओर चाहे अंत की ओर—रामानद जी का वर्त्तमान रहना ठहरता है।

कबीर के समान सेन भगत भी रामानद जी के शिष्यों में प्रसिद्ध हैं। ये सेन भगत बाँधवगढ-नरेश के नाई थे और उनकी सेवा किया करते थे। ये कौन बाँधवगढ-नरेश थे, इसका पता 'भक्तमाल-रामरसिकावली' में रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह ने दिया है—

बांधवगढ़ पूरब जो गायो। सेन नाम नापित तहँ जायो॥
ताकी रहै सदा यह रीती। करत रहै साधुन सों प्रीती॥
तहँ को राजा राम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला॥
करै सदा तिनकी सेवकाई। मुकर दिखावै तेल लगाई॥

रीवाँ-राज्य के इतिहास में राजा राम या रामचद्र का समय सवत् १६११ से १६४८ तक माना जाता है। रामानंद जी से दीक्षा

होने के उपरांत ही सेन उनके भगत हुए होंगे। उनके भक्त हो जाने पर ही उनके लिये भगवान् के नाई का रूप धरनेवाली बात प्रसिद्ध हुई होगी। उक्त चमत्कार के समय वे राज-सेवा में थे। अतः रामराज से अधिक से अधिक १ वर्ष पहले यदि उन्होंने दीक्षा ली हो तो संवत् १३७१ या १३८ तक रामानंद जी का वर्तमान रहना ठहरता है। इस दशा में स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १४वीं शती के चतुर्थ और १५ वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है।

'श्रीरामार्चन-पद्धति' में रामानंद जी ने अपनी पूरी गुरु-परंपरा दी है। उसके अनुसार रामानुजाचार्य्य जी रामानंद जी से १४ पीढ़ी ऊपर थे। रामानुजाचार्य्य जी का परलोकवास संवत् ११९४ में हुआ। अब १४ पीढ़ियों के लिये यदि हम १ वर्ष रखें तो रामानंद जी का समय प्रायः वही आता है जो ऊपर दिया गया है। रामानंद जी का और कोई वृत्त ज्ञात नहीं।

यद्यपि रामानुजाचार्य्य जी के मतानुयायी होने पर भी अपनी उपासना-पद्धति का इन्होंने विशेष रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिये बैकुंठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमंत्र हुआ राम-नाम। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इनके पूर्व देश में रामोपासक भक्त होते ही न थे। रामानुजाचार्य्य जी ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्तक शठकोपाचार्य्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले हुए थे। उन्होंने अपनी 'सहस्रगीति' में कहा है—"दशरथस्य सुतं तं बिना अन्य शरणवान्नास्मि"। श्री रामानुज के पीछे उनके शिष्य कुरेशस्वामी हुए जिनकी "पंचस्तवी" में राम की विशेष भक्ति झलकती है। रामानंद जी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में 'रामरूप' को ही लोक के लिये अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और

एक सबल संप्रदाय का संघटन किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। यह बात उन्होंने सिद्धों या नाथ-पंथियों की देखादेखी नहीं की, बल्कि भगवद्भक्ति के संबंध में महाभारत, पुराण आदि में कथित सिद्धांत के अनुसार की। रामानुज संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने राम-भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संघटन किया जो आज भी 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या, चित्रकूट आदि आज भी वैरागियों के मुख्य स्थान हैं।

भक्ति-मार्ग में इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं—कि रामानंदजी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिये वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सब का समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेदभाव को आश्रय नहीं देते थे। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्य्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर राम-भक्ति का उपदेश ये देने लगे और रामनाम की महिमा सुनाने लगे।

रामानंद जी के ये शिष्य प्रसिद्ध हैं—कबीरदास, रैदास, सेन नाई और गाँगरौनगढ के राजा पीपा, जो विरक्त होकर पक्के भक्त हुए।

रामानंद जी के रचे हुए केवल दो संस्कृत के ग्रंथ मिलते हैं—वैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चन-पद्धति। और कोई ग्रंथ इनका आज तक नहीं मिला है।

इधर सांप्रदायिक झगड़े के कारण कुछ नये ग्रंथ रचे जाकर रामानंद जी के नाम से प्रसिद्ध किए गए हैं—जैसे, ब्रह्मसूत्रों पर आनंद

भाष्य और भगवद्गीता-भाष्य—जिनके संबंध में सावधान रहने की आवश्यकता है। बात यह है कि कुछ लोग रामानुज-परंपरा से रामानंद जी की परंपरा को बिलकुल स्वतंत्र और अलग सिद्ध करना चाहते हैं। इसी से रामानंद जी को एक स्वतंत्र आचार्य्य प्रमाणित करने के लिये उन्होंने उनके नाम पर एक वेदांत-भाष्य प्रसिद्ध किया है। रामानंदजी समय समय पर विनय और स्तुति के हिंदी पद भी बनाकर गाया करते थे। केवल दो तीन पदों का पता अब तक लगा है। एक पद तो यह है जो हनुमान्‌जी की स्तुति में है—

> आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ-कला की॥
> जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
> अंजनी-सुत महाबल दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥
> बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी॥
> लछिमन धरति में मूर्छि परयो। पैठि पताल जमकातर तोरयो॥
> आनि सजीवन प्रान उबारयो। मही सबन कै भुजा उपारयो॥
> गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोही। होहु दयाल देहु जस मोही॥
> लंकाकोट समुंदर खाईं। जात पवनसुत बार न लाईं॥
> लंक प्रजारि असुर सब मारयो। राजा राम के काज सँवारयो॥
> घंटा ताल झालरी बाजै। जगमग जोति अवधपुर छाजै॥
> जो हनुमान जी की आरति गावै। बसि बैकुंठ परमपद पावै॥
> लंक विध्वंस कियो रघुराई। रामानंद आरती गाई॥
> सुर नर मुनि सब करहिं आरती। जै जै जै हनुमान लाल की॥

स्वामी रामानंद का कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने से उनके संबंध में कई प्रकार के प्रवादों के प्रचार का अवसर लोगों को मिला है। कुछ लोगों का कहना है कि रामानंदजी अद्वैतियों के ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी थे। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह संभव है कि उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर कुछ दिन उक्त मठ में वेदांत का अध्ययन किया हो, पीछे रामानुजाचार्य्य के सिद्धांत की ओर आकर्षित हुए हों।

दूसरी बात जो उनके संबंध में कुछ लोग इधर उधर कहते सुने जाते हैं वह यह है कि उन्होंने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योग-साधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। रामानंदजी के जो दो ग्रंथ प्राप्त हैं तथा उनके संप्रदाय में जिस ढंग की उपासना चली आ रही है उससे स्पष्ट है कि वे खुले हुए विश्व के बीच भगवान् की कला की भावना करनेवाले विशुद्ध वैष्णव भक्तिमार्ग के अनुयायी थे, घट के भीतर ढूँढनेवाले योगमार्गी नहीं। इसलिये योग साधनावाली प्रसिद्धि का रहस्य खोलना आवश्यक है।

भक्तमाल में रामानंदजी के बारह शिष्य कहे गए हैं—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी।

अनंतानंदजी के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जिन्होंने गलता (आमेर राज्य, राजपूताना) में रामानंद संप्रदाय की गद्दी स्थापित की। यही पहली और सबसे प्रधान गद्दी हुई। रामानुज संप्रदाय के लिये दक्षिण में जो महत्त्व तोताद्रि का था वही महत्त्व रामानंदी संप्रदाय के लिये उत्तर-भारत में गलता को प्राप्त हुआ। वह 'उत्तर तोताद्रि' कहलाया। कृष्णदास पयहारी राजपूताने की ओर के दाहिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। जैसा कि आदि काल के अंतर्गत दिखाया जा चुका है, भक्ति-आंदोलन के पूर्व, देश में—विशेषत. राजपूताने में—नाथपंथी कनफटे योगियों का बहुत प्रभाव था जो अपनी सिद्धि की धाक जनता पर जमाए रहते थे*। जब सीधे-सादे वैष्णव भक्तिमार्ग का आंदोलन देश में चला तब उसके प्रति दुर्भाव रखना उनके लिये स्वाभाविक था। कृष्णदास पयहारी जब पहले-पहल गलता पहुँचे तब वहाँ की गद्दी नाथपंथी योगियों के अधिकार में थी। वे रात भर टिकने के विचार से वहीं धूनी लगाकर बैठ गए।

---

* देखो पृ० १८—१९।

पर कनफटों ने उन्हें उठा दिया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस पर पयहारीजी ने भी अपनी सिद्धि दिखाई और वे धूनी की आग एक कपड़े में उठाकर दूसरी जगह जा बैठे। यह देख योगियों का महंत बाघ बनकर उनकी ओर झपटा। इस पर पयहारीजी के मुँह से निकला कि "तू कैसा गदहा है!"। वह महंत तुरंत गदहा हो गया और कनफटों की मुद्राएँ उनके कानों से निकल निकलकर पयहारीजी के सामने इकट्ठी हो गईं। आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर महंत फिर आदमी बनाया गया। उसी समय राजा पयहारीजी के शिष्य हो गए और गलता की गद्दी पर रामानंदी वैष्णवों का अधिकार हुआ।

नाथपंथी योगियों के कारण जनता के हृदय में योग-साधना और सिद्धि के प्रति आस्था जमी हुई थी। इससे पयहारीजी की *शिष्य-परंपरा में योग-साधना का भी कुछ समावेश हुआ।* पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्य हुए—अग्रदास और कील्हदास। इन्हीं कील्हदास जी की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ साथ योगाभ्यास की ओर भी हुई जिससे रामानंद जी की वैरागी-परंपरा की एक शाखा में योग-साधना का भी समावेश हुआ। यह शाखा वैरागियों में 'तपसी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कील्हदास के शिष्य द्वारकादास ने इस शाखा को और पल्लवित किया। उनके संबंध में भक्तमाल में ये वाक्य हैं—

'अष्टांग योग तन त्यागियो द्वारकादास, जानै दुनी'

जब कोई शाखा चल पड़ती है तब आगे चलकर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये वह बहुत सी कथाओं का प्रचार करती है। स्वामी रामानंद जी के बारह वर्ष तक योग-साधना करने की कथा इसी प्रकार की है जो वैरागियों की 'तपसी शाखा' में चली। किसी शाखा की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न कथाओं की उद्भावना तक ही नहीं रह जाता। कुछ नए ग्रंथ भी संप्रदाय के मूल प्रवर्तक के

नाम से प्रसिद्ध किए जाते हैं। स्वामी रामानद जी के नाम से चलाए हुए ऐसे दो रद्दी ग्रंथ हमारे पास हैं—एक का नाम है योग-चिंतामणि, दूसरे का रामरक्षा-स्तोत्र। दोनों के कुछ नमूने देखिए—

(१)

पिंड ब्रह्मंड रे भाई। काया चढ़ा न जाई।
जहँ नाद बिंदु का हाथी। सतगुरु ले चले साथी।
जहाँ हैं अष्टदल कमल फूला। हंसा सरोवर में भूला।
शब्द तो हिरदय बसे, शब्द नयनो बसे,
शब्द की महिमा चार वेद गाई।
कहैं गुरु रामानद जी, सतगुर दया करि मिलिया,
सत्य का शब्द सुनु रे भाई॥
सुरत नगर कर सयल। जिसमें है आतमा का महल॥
(—योगचिंतामणि से)

(२)

सन्ध्या तारिणी सर्वदुःख विदारिणी।

सन्ध्या उच्चरै विघ्न टरै। पिंड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करै। नाद नाद सुषुम्ना के मांज साज्या। चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी, उनमनी पांच मुद्रा सधत साधुराजा।

डरे डुगरे जले और थले घाटे घाटे औघट निरंजन निराकार रक्षा करे। बाघ बाघिनी का करो मुख काला। चौंसठ जोगिनी मारि कुटका किया, अखिल ब्रह्मांड तिहुँ लोक में दुहाई फिरिया करै। दास रामानंद ब्रह्म चीन्हा, सोइ निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी।

(—रामरक्षा-स्तोत्र से)

झाड़-फूँक के काम के ऐसे ऐसे स्तोत्र भी रामानंद जी के गले मढे गए हैं। स्तोत्र के आरंभ में जो 'संध्या' शब्द है, नाथपंथ में उसका पारिभाषिक अर्थ है—'सुषुम्ना नाड़ी की संधि में प्राण का जाना।' इसी प्रकार 'निरंजन' भी गोरखपंथ में उस ब्रह्म के लिये एक रूढ शब्द है जिसकी स्थिति वहाँ मानी गई है जहाँ नाद और बिंदु दोनों का लय हो जाता है—

नादोऽपि तत्समायाति बिन्दुरपि तथापि च।
सर्वं तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरंजनः॥

'नाद' और 'बिंदु' क्या है यह नाथपंथ के प्रसंग में दिखाया जा चुका है*।

सिक्खों के ग्रंथ-साहब में भी निर्गुण उपासना के दो पद रामानंद के नाम के मिलते हैं। एक पद है—

कहाँ जाइए हो घरि लाग्यो रंग। मेरो चित न चलै मन भयो पंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान। पूरि रहे हरि सब समान।
बेद स्मृति सब मेल्हे जोइ। उहाँ जाइय हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग। घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाइँ ठाइँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माहिं।
सतगुरु मैं बलिहारी तोर। सकल बिकल भ्रम जारे मोर।
रामानंद रमै एक ब्रह्म। गुरु कै एक सबद काटै कोटि क्रम।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ग्रंथ-साहब में उद्धृत दोनों पद भी वैष्णव भक्त रामानंद जी के नहीं हैं; और किसी रामानंद के हों तो हो सकते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वास्तव में रामानंदजी के केवल दो संस्कृत ग्रंथ ही आज तक मिले हैं। 'वैष्णव-मताब्जभास्कर' में रामानंदजी के शिष्य सुरसुरानंद ने नौ प्रश्न किए हैं जिनके उत्तर में रामतारक मंत्र की विस्तृत व्याख्या, तत्त्वोपदेश, अहिंसा का महत्त्व, प्रपत्ति, वैष्णवों की दिनचर्या, षोडशोपचार-पूजन इत्यादि विषय हैं।

अर्चावतारों के चार भेद—स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष—करके कहा गया है कि वे भगवत् देशों (अयोध्या, मथुरा आदि) में भी सर्वदा सदा निवास करते हैं। जातिभेद, क्रिया-कलाप आदि की अपेक्षा न करनेवाली भगवान् की शरण में सबको आना चाहिए—

---

* देखो पृ० ११—१।

प्राप्तु परां सिद्धिमकिंचनो जनो
द्विजादिरिच्छद्वरण हरिं भजेत्।
परं दयालु स्वगुणानपेक्षित-
क्रियाकलापादिकजातिभेदम् ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी—यद्यपि स्वामी रामानदजी की शिष्य-परपरा के द्वारा देश के बड़े भाग मे रामभक्ति की पुष्टि निरतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम की महिमा गाते आ रहे थे पर हिंदी साहित्य के क्षेत्र मे इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। साराश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक सदर्भ इन्हीं भक्त-शिरोमणि द्वारा सघटित हुआ जिससे हिदी-काव्य की प्रौढता के युग का आरभ हुआ।

'शिवसिंह-सरोज' में गोस्वामी जी के एक शिष्य बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित्र' का उल्लेख है। इस ग्रथ का कहीं पता न था। पर कुछ दिन हुए सहसा यह अयोध्या से निकल पड़ा। अयोध्या में एक अत्यत निपुण दल है जो लुप्त पुस्तकों और रचनाओं को समय समय पर प्रकट करता रहता है। कभी नददास कृत तुलसी की वदना का पद प्रकट होता है जिसमें नददास कहते हैं—

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु भ्राता पद बदे।

* * * *

नददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई॥

कभी सूरदास जी द्वारा तुलसीदास जी की स्तुति का यह पद प्रकाशित होता है—

धन्य भाग्य मम संत सिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।

* * * *

दंभ-तृप्ति तें मम हित हेरि, तत्त्व-सरूप लखायो।
कर्म-उपासन-ज्ञान जनित भ्रम-संशय-शूल नसायो॥*

इस पद के अनुसार सूरदास का 'कर्म उपासना-ज्ञान-जनित भ्रम' वल्लभाचार्य जी ने नहीं तुलसीदास जी ने दूर किया था। सूरदासजी तुलसीदासजी से अवस्था में बहुत बड़े थे और उनसे पहले प्रसिद्ध भक्त हो गए थे, यह सब लोग जानते हैं।

ये दोनों पद 'गोसाईं चरित' के मेल में हैं अतः मैं इन सब का उपक्रम एक ही समझता हूँ। 'गोसाईं चरित' में वर्णित बहुत-सी बातें इतिहास के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं यह डा॰ माताप्रसाद गुप्त अपने कई लेखों में लिख चुके हैं। रामानंद जी की शिष्य-परंपरा के अनुसार देखें तो भी तुलसीदास के गुरु का नाम नरहर्यानंद और नरहर्यानंद के गुरु का नाम अनंतानंद (प्रिय शिष्य अनंतानंद रहे। नरहर्यानंद सुजान छठे) असंगत ठहरता है। अनंतानंद और नरहर्यानंद दोनों रामानंद जी के बारह शिष्यों में थे। नरहरिदास को अवश्य कुछ लोग अनंतानंद का शिष्य कहते हैं पर भक्तमाल के अनुसार वे अनंतानंद के शिष्य श्रीरंग के शिष्य थे। गिरनार में योगाभ्यास किया करते थे। 'तपसी शाखा' की यह बात भी गोसाईं चरित में आ गई है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि तिथि वार आदि ज्योतिष की गणना से कुछ ठीक मिलाकर तथा तुलसी के संबंध में चली आती हुई सारी जन-श्रुतियों का समन्वय करके सावधानी के साथ इसकी रचना हुई है, पर एक ऐसी पदावली इसके भीतर चमक रही है जो इसे बिल्कुल

---

* ये दोनों पंक्तियाँ सूरदास जी के इस पद से जोड़ ली गई हैं—

कर्म योग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो॥
(सूरसागर सारावली)

आजकल की रचना घोषित कर रही है। वह है 'सत्य, शिव, सुंदरम्'। देखिए—

> देखिन तिरपित दृष्टि तें सब जने, कीन्ही सही सकरम्।
> दिव्याधर सों लिख्यो, पढ़ें धुनि सुने, सत्य, शिव, सुंदरम्॥

यह पदावली अँगरेज़ी-समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है, जिसका प्रचार पहले पहल ब्रह्मोसमाज में, फिर बँगला और हिंदी की आधुनिक समीक्षाओं में हुआ, यह हम अपने 'काव्य में रहस्यवाद' के भीतर दिखा चुके हैं।

यह बात अवश्य है कि 'गोसाईं चरित्र' में जो वृत्त दिए गए हैं, वे अधिकतर वे ही हैं जो परंपरा से प्रसिद्ध चले आ रहे हैं।

गोस्वामीजी का एक और जीवन-चरित, जिसकी सूचना मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेव-नारायणजी ने दी थी, उनके एक दूसरे शिष्य महात्मा रघुवरदासजी का लिखा 'तुलसी चरित' कहा जाता है। यह कहाँ तक प्रामाणिक है, नहीं कहा जा सकता। दोनों चरितों के वृत्तांतों में परस्पर बहुत कुछ विरोध है। बाबा बेनीमाधवदास के अनुसार गोस्वामीजी के पिता जमुना के किनारे दुबे-पुरवा नामक गाँव के दूबे और मुखिया थे और इनके पूर्वज पत्यौजा ग्राम से वहाँ आए थे। पर बाबा रघुवरदास के 'तुलसी-चरित' में लिखा है कि सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र—जो गाना के मिश्र थे—रहते थे। वे तीर्थाटन करते करते चित्रकूट पहुँचे और उसी ओर राजापुर में बस गए। उनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। शंकर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए जिनके पुत्र तुलाराम ही आगे चलकर भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए।

दोनों चरितों में गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में तो श्रावण शुक्ला सप्तमी

दिया और वह उसे लेकर अपनी सुसराल चली गई। पाँच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मर गई तब राजापुर में बालक के पिता के पास सवाद भेजा गया पर उन्होंने बालक लेना स्वीकार न किया। किसी प्रकार बालक का निर्वाह कुछ दिन हुआ। अत में बाबा नरहरिदास ने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं गुरु से गोस्वामीजी रामकथा सुना करते थे। इन्हीं अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ गोस्वामीजी काशी में आकर पचगगा घाट पर स्वामी रामानदजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे जिन्होंने तुलसीदासजी को वेद, वेदाग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामीजी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे, पर वहाँ इनके परिवार में कोई नहीं रह गया था और घर भी गिर गया था।

यमुना पार के एक ग्राम के रहनेवाले भारद्वाज गोत्री एक ब्राह्मण यमद्वितीया को राजापुर में स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासजी की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हें व्याह दी। इसी पत्नी के उपदेश से गोस्वामीजी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी अपनी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय ये दोहे कहे—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

यह बात तुलसीदासजी को ऐसी लगी कि वे तुरत काशी आकर विरक्त हो गए। इस वृत्तांत को प्रियादासजी ने भक्तमाल की अपनी

टीका में दिया है और 'तुलसी चरित' और 'गोसाईं चरित' में भी इसका उल्लेख है।

गोस्वामीजी घर छोड़ने पर कुछ दिन काशी में, फिर काशी से अयोध्या जाकर रहे। उसके पीछे तीर्थयात्रा करने निकले और जगन्नाथपुरी रामेश्वर द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए। वहाँ से वे कैलास और मानसरोवर तक निकल गए। अंत में चित्रकूट आकर वे बहुत दिनों तक रहे जहाँ अनेक संतों से इनकी भेंट हुई। इसके अनंतर संवत् १६३१ में अयोध्या जाकर इन्होंने रामचरितमानस का आरंभ किया और उसे २ वर्ष ७ महीने में समाप्त किया। रामायण का कुछ अंश विशेषतः किष्किंधा-कांड काशी में रचा गया। रामायण समाप्त होने पर ये अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान् इनसे आकर मिला करते थे क्योंकि इनकी प्रसिद्धि सारे देश में हो चुकी थी। ये अपने समय के सबसे बड़े भक्त और महात्मा माने जाते थे। कहते हैं कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से इनसे वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर इनकी स्तुति में उन्होंने यह श्लोक कहा था—

आनंदकानने ह्यस्मिञ्जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

गोस्वामीजी के मित्रों और स्नेहियों में नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना महाराज मानसिंह नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते हैं। 'रहीम' से इनसे समय समय पर दोहों में लिखा-पढ़ी हुआ करती थी। काशी में इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के एक भूमिहार जमींदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होंने कई दोहे कहे हैं—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे 'उतारु'॥

रामधाम टोडर गए तुलसी भए अमोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि सकोच॥

गोस्वामीजी की मृत्यु के सबंध में लोग यह दोहा कहा करते हैं—

सवत सोरह मै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है या कर दी गई है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

यही ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामीजी के नाम सीधा दिया करते हैं।

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामीजी का जन्मस्थान ढूँढने एटा जिले के सोरों नामक स्थान तक सीधे पच्छिम दौड़े हैं। पहले पहल उस ओर इशारा स्व० लाला सीताराम ने (राजापुर के) अयोध्याकांड के स्व-संपादित सस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिन पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिये तैयार किए गए। सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत', जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकर छेत्र' गोंडे के ज़िले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहाँ आसपास के कई ज़िलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।

जिन्हें भाषा की परख है उन्हें यह देखते देर न लगेगी कि तुलसीदासजी की भाषा में ऐसे शब्द, जो स्थान-विशेष के बाहर नहीं बोले जाते हैं, केवल दो स्थानों के हैं—चित्रकूट के आस-पास के और अयोध्या के आसपास के। किसी कवि की रचना में यदि किसी स्थान-विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले अनेक शब्द मिलें तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास-सबध

मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मन में बैठ जाती है कि तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ जहाँ उनकी कुमार अवस्था बीती। सरवरिया होने के कारण उनके कुल के तथा संबंधी अयोध्या, गोंडा, बस्ती के आसपास थे जहाँ उनका आना-जाना बराबर रहा करता था। विरक्त होने पर वे अयोध्या में ही रहने लगे थे। 'रामचरित-मानस' में आए हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिए जाते हैं जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती गोंडे आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

माहुर = विष। सरौं = कसरत; फहराना या फरहराना = प्रफुल्लित होना (सरौं करहिं पायक फहराई)। फुर = सच। अवसेरि = झुरा मनाना (केहि राउर अवसेरि आज)। रउरेहि = आपको (रउरेहि कहब हुत रउरेहि बामा)। रमा लह्यौं = रमा से पाया (प्रथम पुरुष का बहुवचन रा — अरि अवम के पाय न ते परितोष उमा रमा लह्यौं)। छूटि = विहानी, उपरांत।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही (जहाँ की भाषा पूरबी हिंदी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय = वे गड्ढे जो करैल पाली जमीन में बरसात के कारण जगह जगह पड़ जाते हैं (काट कुराय लपेटन लोट्टन ठाँवहि ठाँव बझाऊ रे। —विनय)।

सुआर = सूपकार, रसोइया।

ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की बोली गोस्वामीजी की अपनी थी। आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वसामान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही है यह तो निश्चित है। भाषा-काव्य के परिचय के लिये प्रायः सारे उत्तर भारत के लोग बराबर इसका अभ्यास करते थे और अभ्यास द्वारा सुंदर रचना भी करते थे। ब्रजभाषा में रीतिग्रंथ लिखनेवाले चिंता-

मणि, भूषण, मतिराम, दास इत्यादि अधिकतर कवि अवध के थे और व्रजभाषा के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। दासजी ने तो स्पष्ट व्यवस्था ही दी है कि 'व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानो'। पर पूरबी हिंदी या अवधी के संबंध में यह बात नहीं है। अवधी भाषा में रचना करनेवाले जितने कवि हुए हैं सब अवध या पूरब के थे। किसी पछाहीं कवि ने कभी पूरबी हिंदी या अवधी पर ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं किया कि उसमें रचना कर सके। जो बराबर सोरों की पछाहीं बोली (व्रज) बोलता आया होगा वह 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की सी ठेठ अवधी लिखेगा, 'मानस' ऐसे महाकाव्य की रचना अवधी में करेगा और व्याकरण के ऐसे देशबद्ध प्रयोग करेगा जैसे ऊपर दिखाए गए हैं? भाषा के विचार में व्याकरण के रूपों का मुख्यतः विचार होता है।

भक्त लोग अपने को जन्म-जन्मांतर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा संकेत भी है। 'रामचरित-मानस' के अयोध्याकांड में वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते हैं और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यों को विदा करते हैं। राम सीता तट पर के लोगों से बातचीत कर ही रहे हैं कि—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलषित गति वेष विरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी॥

सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है। कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने

अपने को ही दास रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश में जहाँ के वे निवासी थे अर्थात् राजापुर के पास।

सूरदास ने भी भक्तों की इस पद्धति का अवलंबन किया है। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्य जी से दीक्षा लेने के उपरांत सूरदासजी गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम स्कंध के आरंभ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये अपने को ढाढ़ी के रूप में नंद के द्वार पर पहुँचाया है—

> नंद जू! मेरे मन आनंद भयो हौं गोवर्द्धन तें आयो।
> तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥
>
> * * * *
>
> जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाऊँ।
> हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ॥

सब का तात्पर्य यह कि तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही ठीक है।

एक बात की ओर और ध्यान जाता है। तुलसीदासजी रामानंद संप्रदाय की वैरागी-परंपरा में नहीं जान पड़ते। उक्त संप्रदाय के अंतर्गत जितनी शिष्य-परंपराएँ मानी जाती हैं उनमें तुलसीदासजी का नाम कहीं नहीं है। रामानंद-परंपरा में सम्मिलित करने के लिये उन्हें नरहरिदास का शिष्य बताकर जो परंपरा मिलाई गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे पर स्मार्त वैष्णव थे।

गोस्वामीजी के प्रादुर्भाव को हिंदी-काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। वीरगाथा-काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समृद्धि उनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के

चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली में अपनी वाणी कही। पर वह बोली बेठिकाने की थी। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होंने नाथपंथियों की 'सधुक्कड़ी भाषा' का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था। इसका कारण यह है कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।

साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथा-काल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी ब्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में ले आए। उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। सूरसागर को ध्यानपूर्वक देखने से उसमें क्रियाओं के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम (जैसे, जासु तासु, जेहि तेहि) तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाए जायँगे। सारांश यह कि वे परंपरागत काव्य-भाषा को बिलकुल अलग करके एकबारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट-सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया। यह तो हुई ब्रजभाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। जैसा कि पहले

कहा जा चुका है अवधी की सब से पुरानी रचना ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' है*। आगे चलकर 'प्रेममार्गी शाखा' के मुसलमान कवियों ने भी अपनी कहानियों के लिये अवधी भाषा ही चुनी। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में काव्यभाषा के दो रूप प्रचलित थे—एक ब्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।

भाषा-पक्ष के स्वरूप को लेते हैं तो गोस्वामीजी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से मुख्य ये हैं—(क) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति (ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति (घ) कबीरदास की नीति-संबंधी बानी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबंध-पद्धति। इस प्रकार काव्यभाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यक्षेत्र में गोस्वामीजी को मिलीं। तुलसीदासजी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्यक्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिंदी-कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पद्मावत में मिलती है वही जानकीमंगल पार्वतीमंगल बरवारामायण और रामललानहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।

प्रचलित रचना-शैलियों पर भी उनका इसी प्रकार का पूर्ण अधिकार हम पाते हैं।

---

* देखो पृ० ९१।

(क) वीर-गाथा काल की छप्पय-पद्धति पर इनकी रचना यद्यपि थोड़ी है, पर इनकी निपुणता पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है, जैसे—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरत वीर बारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥
डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिमभानु संघटित होत परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर इन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुंदर रचना की है। सूरदासजी की रचना में संस्कृत की 'कोमल कांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामीजी की रचना में है। दोनों भक्तशिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृत गर्भित है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों में शुद्ध देशभाषा का माधुर्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमें गीतगोविंद के पदविन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कहीं कोमल और कहीं कर्कश देखने में आता है। हृदय के विविध भावों की व्यंजना गीतावली के मधुर पदों में देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्मग्लानि की व्यंजना किन शब्दों में करते हैं देखिए—

जौ हौं मातुमते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यौं हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची?
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिखन्ह बाँची?

इसी प्रकार चित्रकूट में राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुंदर चित्रण है—

बिलोके दूरि तें दोउ बीर।
मन अगहुँड़, तन पुलक सिथिल भयो, नलिन-नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ कढ़त प्रेमबल धीर॥

'गीतावली' की रचना गोस्वामीजी ने सूरदासजी के अनुकरण पर की है। बाललीला के कई एक पद ज्यों के त्यों सूरसागर में भी मिलते हैं केवल 'राम' 'श्याम' का अंतर है। लंकाकांड तक तो कथा की घटनाक्रम के अनुसार मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तरकांड में जाकर सूर-पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उसका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है। जिस रूप में राम को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है। 'सूरसागर' में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं होली खेलते हैं वही करते राम भी दिखाए गए हैं। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्यभाव ही प्रकट होता है। राम की नखशिख-शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर बहुत से पदों में लगातार चला गया है। सरयूतट के इस आमोदोत्सव को आगे चलकर रसिक लोग जैसा रूप देंगे इसका ख्याल गोस्वामीजी को न रहा।

(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर भी इसी प्रकार सारा रामचरित गोस्वामीजी कह गए हैं जिसमें नाना रसों का सन्निवेश अत्यंत विशद रूप में और अत्यंत पुष्ट और स्वच्छ भाषा में मिलता है। नाना रसमयी रामकथा तुलसीदासजी ने अनेक प्रकार

की रचनाओं में कहीं है। कवितावली में रसानुकूल शब्द-योजना बड़ी सुंदर है। जो तुलसीदासजी ऐसी कोमल भाषा का व्यवहार करते हैं—

राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

गोरो गरूर गुमान भरो यह, कौसिक, छोटो सो ढोटो है काको ?

जल को गए लक्खन, हैं लरिका, परिखौ, पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग में ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते हैं—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटके लँगूर फेरि फेरिकै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं तुलसीस "राखि राम की सौं" टेरिकै।
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्तिपद्धति पर बहुत से दोहे रामचरितमानस और दोहावली में मिलेंगे जिनमें बड़ी मार्मिकता से और कहीं कहीं बड़े रचनाकौशल से व्यवहार की बातें कही गई हैं और भक्ति प्रेम की मर्य्यादा दिखाई गई है।

का सन्निवेश उनकी कविता के भीतर है। इस संबंध में हम यह पहले ही कह देना चाहते हैं कि अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मंदिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को, भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, अलंकार काल के कवि दांपत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्ज्वल छटा उसमें वर्त्तमान है।

पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण-धारा के संतों की बानी में किस प्रकार लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण-धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोकधर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्य्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसंपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पति प्रेम-परायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-पंथियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत से

अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे, यों ही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता को लौकिक कर्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं। इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने इस प्रकार के वचन कहे हैं—

> श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिबेक।
> तेहि परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
> साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
> भगति निरूपहिं भगत-कलि निंदहिं बेद पुरान॥
> बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि।
> जानहिं ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि देखावहिं डाटि॥

इसी प्रकार योगमार्ग से भक्तिमार्ग का पार्थक्य गोस्वामीजी ने खूब स्पष्ट शब्दों में बताया है। योगमार्ग ईश्वर को अंतस्थ मानकर अनेक प्रकार की अंतस्साधनाओं में प्रवृत्त करता है। सगुण भक्तिमार्ग ईश्वर को भीतर और बाहर सर्वत्र मानकर उसकी कला का दर्शन करते हुए व्यक्त जगत् के बीच करता है। वह ईश्वर को केवल मनुष्य के क्षुद्र घट के भीतर ही नहीं मानता। इसी से गोस्वामीजी कहते हैं—

> अन्तर्यामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिये तें।
> पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें।

'घट के भीतर' कहने से गुह्य या रहस्य की भावना फैलती है जो भक्ति के सीधे स्वाभाविक मार्ग में बाधा डालती है। 'घट के भीतर साक्षात्कार करने की बात कहनेवाले मार्ग' अपने को गूढ़ रहस्यदर्शी प्रकट करने के लिये सीधी सादी बात को भी रूपक बाँधकर और टेढ़ी मेढ़ी बनाकर कहा करते हैं। पर इस प्रकार के दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति को गोस्वामीजी भक्ति का विरोधी मानते हैं। सरलता या सीधेपन को वे भक्ति का नित्य लक्षण कहते हैं—मन की सरलता वचन की सरलता और कर्म की सरलता तीनों को—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति॥

वे भक्ति के मार्ग को ऐसा नहीं मानते जिसे 'लखै कोइ बिरलै'। वे उसे ऐसा सीधा-सादा स्वाभाविक मार्ग बताते हैं जो सबके सामने खुला दिखाई पड़ता है। वह संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माहँ॥

अभिप्राय यह कि जिस हृदय से भक्ति की जाती है वह सबके पास है। हृदय की जिस पद्धति से भक्ति की जाती है वह भी वही है जिससे माता पिता की भक्ति, पुत्र कलत्र का प्रेम किया जाता है। इसी से गोस्वामी जी चाहते हैं कि—

रहि जग महँ जहँ लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि इक ठाईं॥

नाथपंथी रमते जोगियों के प्रभाव से जनता अभी भेद भरी हुई तरह तरह की करामातों को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ बिरले रहस्यदर्शी लोगों का ही काम समझने लगी थी। जो हृदय सबके पास होता है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान् की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर परदा-सा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग नहीं देख पाते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि नाथपंथ का हठयोग-मार्ग हृदयपक्ष शून्य है*। रागात्मिका-वृत्ति से उसका कोई लगाव नहीं। अत रमते जोगियों की रहस्यभरी बानियाँ सुनते सुनते जनता के हृदय में भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी, उठने ही नहीं पाती थी। लोक की इसी दशा को लक्ष्य करके गोस्वामीजी को कहना पड़ा था कि—

* देखो पृ० ७२।

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांग-पूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये चित्त को एकाग्र करने के लिये, आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरीय भारत में वह वैसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण में किया। यही तक नहीं जिस प्रकार उन्होंने लोकधर्म और भक्तिसाधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म ज्ञान और उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया। 'मानस' के बालकांड में संत-समाज का जो लम्बा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप में सामने लाता है। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोकपक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्ति-रस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरित मानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।

अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढँग से किया है। रामचरितमानस में नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक। चतुर दुभाखी॥

दोहावली में भक्ति की सुगमता बड़े ही मार्मिक ढँग से गोस्वामीजी ने इस दोहे के द्वारा सूचित की है—

की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि॥

इसी प्रकार रामचरितमानस के उत्तरकांड में इन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं अधिक सुसाध्य और आशुफलदायिनी कहा है।

रचना कौशल, प्रबंध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरित-मानस में मिलता है। पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्य के सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबंध काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्या-पुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेको-त्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लंबे होने पाए हैं, न पात्रों के संवाद, न प्रेम शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की शृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।

दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है जो मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं—जैसे, जनक की वाटिका में राम-सीता का परस्पर दर्शन, रामवन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में पुरुषी-स्त्रियों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना इत्यादि।

तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल कठोर पदों की योजना तो निर्दिष्ट की ही है। उसके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होती है।

चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट-मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।

जिस धूमधाम से 'मानस' की प्रस्तावना चली है उसे देखते ही ग्रंथ के महत्व का आभास मिल जाता है। उससे साफ़ झलकता है कि तुलसीदासजी अपने ही तक दृष्टि रखनेवाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखनेवाले भक्त थे। जिस व्यक्त जगत् के बीच उन्हें भगवान् के राम-रूप की कला का दर्शन कराना था पहले चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर उसके अनेकरूपात्मक स्वरूप को उन्होंने सामने रखा है। फिर उसके भले-बुरे पक्षों की विषमता देख-दिखाकर अपने मन का यह कहकर समाधान किया है—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू।

इसी प्रस्तावना के भीतर तुलसी ने अपनी उपासना के अनुकूल विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का भी आभास यह कहकर दिया है—

सिया राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

जगत् को केवल राममय न कहकर उन्होंने 'सिया-राम-मय' कहा है। सीता प्रकृति-स्वरूपा हैं और राम ब्रह्म हैं; प्रकृति अचित् पक्ष है और ब्रह्म चित् पक्ष। अतः पारमार्थिक सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है यह स्पष्ट झलकता है। चित् और अचित् वस्तुतः एक ही हैं इसका निर्देश उन्होंने

गिरा अर्थ, जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बदौं सीता-राम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

कहकर किया है।

'रामचरित-मानस' के भीतर कहीं कहीं घटनाओं के थोड़े हेर-फेर तथा स्वकल्पित संवादों के समावेश के अतिरिक्त अपनी ओर से छोटी मोटी घटनाओं या प्रसंगों की नई कल्पना तुलसीदासजी ने नहीं की है। 'मानस' में उनका ऐसा न करना तो उनके उद्देश्य के अनुसार बहुत ठीक है। राम के प्रामाणिक चरित द्वारा वे जीवन भर बना रहनेवाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे, और काव्यों के समान केवल अल्पस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं। 'ये प्रसंग तो केवल तुलसी द्वारा कल्पित हैं', यह धारणा उन प्रसंगों का कोई स्थायी प्रभाव श्रोताओं या पाठकों पर न जमने देती। पर गीतावली तो प्रबंध-काव्य न थी। उसमें तो सूर के अनुकरण पर वस्तु-व्यापार वर्णन का बहुत विस्तार है। उसके भीतर छोटे छोटे नूतन प्रसंगों की उद्भावना का पूरा अवकाश था, फिर भी कल्पित घटनात्मक प्रसंग नहीं पाए जाते। इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिभा अधिकतर उपलब्ध प्रसंगों को लेकर चलनेवाली थी, नए नए प्रसंगों की उद्भावना करनेवाली नहीं। उनकी कल्पना वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी, नई वस्तु-स्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी। गोपियों को छकानेवाली कृष्णलीला के अंतर्गत छोटी मोटी कथा के रूप में कुछ दूर तक मनोरंजक और कुतूहलप्रद ढंग से चलनेवाले नाना प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना सूरसागर में पाई जाती है, वह तुलसी के किसी ग्रंथ में नहीं मिलती।

'रामचरित मानस' में तुलसी केवल कवि के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी सामने आते हैं। उपदेश उन्होंने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए हैं, इससे काव्यदृष्टि से यह कहा जा सकता

है कि वे उपदेश पात्र के स्वभाव-विभव के साधनरूप हैं। पर बात यह नहीं है। ये उपदेश उपदेश के लिये ही हैं।

गोस्वामीजी के रचे बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें ५ बड़े और ७ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्नावली, विनयपत्रिका बड़े ग्रंथ हैं तथा रामलला-नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी और कृष्णगीतावली छोटे। पं० रामगुलाम द्विवेदी ने जो एक प्रसिद्ध भक्त और रामायणी हो गए हैं इन्हीं बारह ग्रंथों को गोस्वामीजी कृत माना है। पर शिवसिंहसरोज में दस और ग्रंथों के नाम गिनाए गए हैं, यथा— रामसतसई, संकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोलारामायण, झूलना रामायण और कुंडलिया रामायण। इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं। हनुमद्बाहुक को पंडित रामगुलामजी ने कवितावली के ही अंतर्गत लिया है। रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमें से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमें कुतूहलवर्धक चातुर्य लिए हुए और शिथिल हैं। यद्यपि दोहावली में भी कुछ दोहे इस ढंग के हैं पर गोस्वामीजी ऐसे गंभीर, सहृदय और कलामर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यों का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं आता। जो हो बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रचलित चरित में भी रामसतसई का उल्लेख हुआ है।

कुछ ग्रंथों के निर्माण के संबंध में जो जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं उनका उल्लेख यहाँ भी आवश्यक है। कहते हैं कि बरवा रामायण गोस्वामीजी ने अपने स्नेही मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के कहने पर उनके बरवों (बरवै नायिका-भेद) को देखकर बनाया था। कृष्ण-गीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनों ग्रन्थ चित्रकूट में उस समय के कुछ पीछे लिखे

गए जब सूरदासजी उनसे मिलने वहाँ गए थे। गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित गंगाराम ज्योतिषी काशी में प्रह्लादघाट पर रहते थे। रामाज्ञा-प्रश्न उन्हीं के अनुरोध से बना माना जाता है। हनुमान-बाहुक से तो प्रत्यक्ष है कि वह बाहुओं में असह्य पीड़ा उठने के समय रचा गया था। विनयपत्रिका के बनने का कारण यह कहा जाता है कि जब गोस्वामीजी ने काशी में रामभक्ति की गहरी धूम मचाई तब एक दिन कलिकाल तुलसीदासजी को प्रत्यक्ष आकर धमकाने लगा और उन्होंने राम के दरबार में रखने के लिये यह पत्रिका या अर्जी लिखी।

गोस्वामीजी की सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता का परिचय आरंभ में ही दिया जा चुका है। उनकी साहित्यमर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध में इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं कहीं लंबे लंबे सांग रूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है। दोहावली के कुछ दोहों के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग उन्होंने भावों और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने के लिये किया है, कारीगरी दिखाने के लिये नहीं। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार-धारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते, केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकांत के लिये लिये शब्द भी तोड़े मरोड़े गए हैं। पर गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है, एक भी शब्द फालतू नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियों में रह गई

इन रसों की सम्यक् व्यंजना इन्होंने की है; पर मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं किया है। प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सबके सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिये काफी है।

(२) स्वामी अग्रदास—रामानंदजी के शिष्य अनंतानंद और अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदासजी थे। इन्हीं अग्रदासजी के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादासजी थे। गलता (राजपूताना) की प्रसिद्ध गद्दी का उल्लेख पहले हो चुका है*। वहीं ये भी रहा करते थे और संवत् १६३२ के लगभग वर्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है—

१—हितोपदेश उपखाणाँ बावनी।

२—ध्यानमंजरी।

३—रामध्यान-मंजरी।

४—कुंडलिया।

इनकी कविता उसी ढंग की है जिस ढंग की कृष्णोपासक नंददासजी की। उदाहरण के लिये यह पद्य देखिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल बिसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

इनका एक पद भी देखिए—

पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मतिमंद अंध नहिं जोवत॥
अपमारग मारग महि जान्यो। इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो॥
औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार॥

* देखो पृ० १२५—१६

(३) नाभादासजी—ये उपर्युक्त अग्रदासजी के शिष्य, बड़े भक्त और साधुसेवी थे। ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ में प्रियादासजी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गए हैं। इन चरित्रों में पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशों में सिद्ध भी हुआ। आज उत्तरीय भारत के गाँव गाँव में साधुवेशधारी पुरुषों को शास्त्रज्ञ विद्वानों और पंडितों से कहीं बढ़कर जो सम्मान और पूजा प्राप्त है वह बहुत कुछ भक्तों की करामातों और चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों के सम्यक् प्रचार से।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते हैं, कुछ क्षत्रिय। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक बार गो० तुलसीदासजी से मिलने काशी गए। पर उस समय गोस्वामीजी ध्यान में थे, इससे न मिल सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन चले गए। ध्यान भंग होने पर गोस्वामीजी को बड़ा खेद हुआ और वे तुरंत नाभाजी से मिलने वृंदावन चल दिए। नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भंडारा था जिसमें गोस्वामीजी बिना बुलाए जा पहुँचे। गोस्वामीजी यह समझकर कि नाभाजी ने मुझे अभिमानी न समझा हो, सबसे दूर एक किनारे बुरी जगह बैठ गए। नाभाजी ने जान बूझकर उनकी ओर ध्यान न दिया। परसने के समय कोई पात्र न मिलता था जिसमें गोस्वामीजी को खीर दी जाती। यह देखकर गोस्वामीजी एक साधु का जूता उठा लाए और बोले, "इससे सुंदर पात्र मेरे लिये और क्या होगा?" इस पर नाभाजी ने उठकर उन्हें गले से लगा लिया और गद्गद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि तुलसी संबंधी अपने प्रसिद्ध छप्पय के अंत में पहले नाभाजी ने कुछ चिढ़कर यह चरण रखा था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भए

वाल्मीकि अवतार कहि।" यह वृत्तांत कहाँ तक ठीक है नहीं कहा जा सकता क्योंकि गोस्वामीजी खान-पान का विचार रखनेवाले स्मार्त वैष्णव थे। तुलसीदासजी के संबंध में नाभाजी का प्रसिद्ध छप्पय यह है—

त्रेता काव्य निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि-परायन॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला बिस्तारी।
रामचरनरसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥

अपने गुरु अग्रदास के समान इन्होंने भी रामभक्ति-संबंधी कविता की है। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद-रचना में अच्छी निपुणता थी। रामचरित-संबंधी इनके पदों का एक छोटा सा संग्रह अभी थोड़े दिन हुए प्राप्त हुआ है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाए—एक ब्रजभाषा गद्य में दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में। दोनों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(गद्य)—तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

(पद्य)

अवधपुरी की शोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। बिबिध रंग मति अति मन भावन॥
चहुँ दिसि बिपिन प्रमोद अनूपा। चतुरवीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज भृंग रस भूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले॥

परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
बिबिध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(४) **प्राणचंद चौहान**—संस्कृत में रामचरित-संबंधी कई नाटक हैं जिनमें कुछ तो नाटक के साहित्यिक नियमानुसार हैं और कुछ केवल संवाद-रूप में होने के कारण नाटक कहे गए हैं। इसी पिछली पद्धति पर संवत् १६६७ में इन्होंने रामायण महानाटक लिखा। रचना का ढंग नीचे उद्धृत अंश से ज्ञात हो सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥
संवत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुप की माया॥
जेहि माया कह मुनि जगमूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥
निकसि न सक माया कर बाँधा। देपहु कमलनाल के रोंधा॥
आदि पुरुप बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार बेद गुन जोरि बषाना॥
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजनहारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना॥
देपै सब पै आहि न आँपी। अंधकार चोरी के साषी॥
तेहि कर दहुँ को करै बषाना। जिहि कर मर्म बेद नहिं जाना॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शंकर पँवरि बीच होइ हारा॥

(५) **हृदयराम**—ये पंजाब के रहनेवाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा जिसकी कविता बड़ी सुंदर और परिमार्जित है। इसमें अधिकतर कवित्त और सवैयों में बड़े अच्छे संवाद हैं। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय की सारी प्रचलित काव्य-पद्धतियों पर रामचरित का गान किया। केवल रूपक या नाटक के ढंग पर उन्होंने कोई रचना नहीं की। गोस्वामीजी के समय में ही उनकी ख्याति के साथ साथ रामभक्ति की तरंगें भी देश के भिन्न भिन्न भागों में उठ चली थीं। अतः उस काल के भीतर ही नाटक के रूप में कई रचनाएँ हुईं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ।

रामभक्ति का एक अंग आदि रामभक्त हनुमान जी की उपासना भी हुई। स्वामी रामानंदजी कृत हनुमानजी की स्तुति का उल्लेख हो चुका है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने हनुमानजी की वंदना बहुत स्थलों पर की है। 'हनुमानबाहुक' तो केवल हनुमानजी को ही संबोधन करके लिखा गया है। भक्ति के लिये किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्तिमार्ग में अपेक्षित होता है। संवत् १६९६ में रायमल्ल पाँड़े ने 'हनुमच्चरित्र' लिखा। गोस्वामीजी के पीछे भी कई लोगों ने रामायणें लिखीं पर वे गोस्वामीजी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं। विक्रम की १६ वीं और २० वीं शताब्दी में अयोध्या के महंत बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह आदि ने रामचरित संबंधी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल में रामभक्ति विषय कविता बहुत कुछ हुई।

रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीतकाव्य की ही पूर्ति की पर रामचरित को लेकर अच्छे अच्छे प्रबंधकाव्य रचे गए।

तुलसीदासजी के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि रामभक्ति में भक्ति का पूर्ण स्वरूप विकसित हुआ है। प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्यबुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है, उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्व-

शक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का धर्म की इस मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनंत रूप-सौंदर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक में जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—उसकी खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की व्याकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है तब आनंद का आविर्भाव होता है और 'सच्चिदानंद' की अनुभूति होती है।

यह है उस सगुण भक्तिमार्ग का प्रकृत पक्ष जो भगवान् के अवतार को लेकर चलता है और जिसका पूर्ण विकास तुलसी की रामभक्ति में पाया जाता है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी ने लोक में फैले अधर्म अनाचार अत्याचार आदि का भीषण चित्र खींचकर भगवान् से अपना सत्स्वरूप धर्मसंस्थापक स्वरूप, व्यक्त करने की प्रार्थना की है। उन्हें दृढ़ विश्वास है कि धर्म-स्वरूप भगवान् की कला का कभी न कभी दर्शन होगा। अतः वे यह भावना करके पुलकित हो जाते हैं कि सत्स्वरूप का लोकव्यापक प्रकाश हो गया रामराज्य प्रतिष्ठित हो गया और चारों ओर फिर मंगल छा गया—

> रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-विजई है।
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

जो भक्तिमार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना माधुर्य्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जायगा और धीरे धीरे उसमें गुह्य रहस्य आदि का भी समावेश होगा   णाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता

और इंद्रियासक्ति की साधना होगी। कृष्णभक्ति शाखा कृष्ण भगवान् के धर्मस्वरूप को—लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को—छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्म-सौंदर्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गई। तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप में, श्रद्धा-प्रेम-समन्वित रूप में, सबके सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्य लक्षण निर्धारित किया।

अत्यत खेद की बात है कि इधर कुछ दिनों से एक दल इस रामभक्ति को भी शृंगारी भावनाओं मे लपेटकर विकृत करने में जुट गया है। तुलसीदासजी के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि कृष्णभक्त सूरदासजी की शृंगारी रचना का कुछ अनुकरण गोस्वामीजी की 'गीतावली' के उत्तरकांड में दिखाई पड़ता है, पर वह केवल आनदोत्सव तक रह गया है। इधर आकर कृष्णभक्ति शाखा का प्रभाव बहुत बढा। विषय वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कुछ दिनों से रामभक्ति-मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश हो रहा है। इस शृंगारी भावना के प्रवर्त्तक थे रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकी घाट (अयोध्या) के रामचरणदासजी, जिन्होंने पति पत्नी-भाव की उपासना चलाई। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्व-सुखी' शाखा रखा। स्त्री-वेष धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए। रामचरणदासजी ने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक नवीन कल्पित ग्रंथ प्राचीन बताकर अपनी शाखा में फैलाए, जैसे—लोमश-संहिता, हनुमत्संहिता, अमर रामायण, भुशुंडी रामायण, महारामायण (५ अध्याय), कोशलखंड, रामनवरत्न, महारासोत्सव सटीक (सं० १९०४ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ में छपा)।

'कोशलखंड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं और कहा गया है कि रासलीला तो

वास्तव में राम ने की थी। रामावतार में १६ रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था जिसके लिये उन्हें फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार विलास-क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगाई गई। गोलोक में जो नित्य रासलीला होती रहती है उससे कहीं बढ़कर साकेत में हुआ करती है। वहाँ की नर्तकियों की नामावली में रंभा उर्वशी आदि के साथ साथ राधा और चंद्रावली भी गिना दी गई हैं।

रामचरणदास की इस शृंगारी उपासना में चिरान छपरा के जीवारामजी ने थोड़ा हेरफेर किया। उन्होंने पति-पत्नी-भाव के स्थान पर 'सखीभाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इस 'सखीभाव' की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्यशरण ने किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हें बहुत मानते थे और इन्हीं की सम्मति से उन्होंने चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए। चित्रकूट की भावना वृंदावन के रूप में की गई और वहाँ के कुंज भी ब्रज के से क्रीड़ाकुंज माने गए। इस रसिकपंथ का आजकल अयोध्या में बहुत जोर है और वहाँ के बहुत से मंदिरों में अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। इस पंथ के लोगों का उत्सव अधिकतर चैत कृष्ण नवमी को वहाँ होता है। ये लोग सीता राम को 'युगल सरकार' कहा करते हैं और अपना आचार्य्य 'कृपा निवास' नामक एक कल्पित व्यक्ति को बतलाते हैं जिसके नाम पर एक कृपा-निवास-पदावली सं० १९ १ में छपी (चित्रप्रेस लखनऊ)। इसमें अनेक अत्यंत अश्लील पद हैं जैसे—

(१) नीबी करषत बरजति प्यारी।
रसलंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि लै बलिहारी॥
(पद १९)

(२) पिय हँसि रस रस कंचुकि खोलैं।
चमकि निवारति पानि लाड़िली, मुरक मुरक मुख बोलैं॥

ऐसी ही एक और पुस्तक 'श्रीरामावतार-भजन तरंगिणी' इन लोगों की ओर से निकली है जिसका एक भजन देखिए—

हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर।
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के वीर॥
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर॥

भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगों के द्वारा हुई है यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। लोकपावन आदर्श का ऐसा बीभत्स विपर्य्यय देखकर चित्त क्षुब्ध हो जाता है। रामभक्ति-शाखा के साहित्य का अनुसंधान करनेवालों को सावधान करने के लिये ही इस 'रसिक शाखा' का यह थोड़ा सा विवरण दे दिया गया है। 'गुह्य', 'रहस्य', 'माधुर्य्य भाव' इत्यादि के समावेश से किसी भक्तिमार्ग की यही दशा होती है। गोस्वामीजी ने शुद्ध, सात्त्विक और खुले रूप में जिस रामभक्ति का प्रकाश फैलाया था वह इस प्रकार विकृत की जा रही है।

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति शाखा

श्री वल्लभाचार्य्यजी—पहले कहा जा चुका है कि विक्रम की १५वीं और १६वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके श्री वल्लभाचार्य्य जी प्रधान प्रवर्त्तकों में से थे। आचार्य्यजी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को और गोलोकवास संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल १ को हुआ। वे वेदशास्त्र में पारंगत धुरंधर विद्वान् थे।

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य्य हुए हैं सब का लक्ष्य शंकराचार्य्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश-रूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उससे परे भी रहता है। वह अपने सत्, चित् और आनंद इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है पर आनंद का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है; चित् और आनंद दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम

रूप में रहता है, अत यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। व अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' में (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी 'व्यापी वैकुंठ' का एक खंड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्यलीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिये वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्त्व की भावना में मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता में सूरदास की एक वार्त्ता के अंतर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को आनुषंगिक या सहायक कहा है—

"श्री आचार्य्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है? माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ स्नेह की तो परम काष्ठा है। स्नेह आगे भगवान् को रहत नाहीं ताते भगवान् बेर बेर माहात्म्य जनावत हैं। * * * * इन व्रजभक्तन को स्नेह परमकाष्ठापन्न है। ताही समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय।"

प्रेम-साधना में वल्लभ ने लोक मर्य्यादा और वेदमर्य्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान् का अनुग्रह होता है जिसे 'पोषण' या 'पुष्टि' कहते हैं। इसी से वल्लभाचार्य्यजी ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि मार्ग' रखा है।

उन्होंने जीव तीन प्रकार के माने हैं—(१) पुष्टि जीव, जो भगवान् के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और 'नित्यलीला' में प्रवेश

पाते हैं (२) मर्य्यादा जीव जो वेद की विधियों का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं और (३) प्रवाह जीव जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं।

'कृष्णाश्रय नामक अपने एक प्रकरण ग्रंथ' में वल्लभाचार्य्य ने अपने समय की धर्मच्युत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें उन्हें वेदमार्ग या मर्य्यादा-मार्ग का अनुसरण अत्यंत कठिन दिखाई पड़ा है। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिंदुओं का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था पर बहमनी सुलतानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इसलामी लश्कर चारों ओर जमते जा रहे थे। सूफी पीरों के द्वारा सूफी-पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार-कार्य्य धूम से चल रहा था। एक ओर निर्गुन पंथ' के संत लोग वेद शास्त्र की विधियों पर से जनता की आस्था हटाने में लगे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य्य ने अपने पुष्टि मार्ग का प्रवचन बहुत कुछ देश-काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य्यजी के मुख्य ग्रंथ ये हैं—(१) पूर्व-मीमांसा भाष्य (२) उत्तर-मीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य जो 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रंथ है (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका (४) तत्त्वदीपनिबंध तथा (५) सोलह छोटे छोटे प्रकरण ग्रंथ। इनमें से पूर्वमीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य्यजी पूरा न कर सके थे। अतः अंत के डेढ़ अध्याय उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने लिखकर ग्रंथ पूरा किया। भागवत की सूक्ष्म टीका नहीं मिलती सुबोधिनी का भी कुछ ही अंश मिलता है। प्रकरण-ग्रंथों में 'पुष्टिप्रवाह मर्य्यादा' नाम की पुस्तक मुरादाबाद ठाकुरदास सेठीवाला ने संपादित करके प्रकाशित कराई है।

रामानुजाचार्य्य के समान वल्लभाचार्य्य ने भी भारत के बहुत से भागों में पर्य्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत में अपने उपास्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का बड़ा भारी मंदिर निर्माण कराया तथा सेवा का बड़ा भारी मंडान बाँधा। वल्लभ संप्रदाय में जो उपासना पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। मंदिरों की प्रशंसा "केसर की चक्कियाँ चलें हैं" कहकर होने लगी। भोग-विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था। जनता पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुंदर सुंदर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया। इस संगीत-धारा में दूसरे संप्रदायों के कृष्णभक्तों ने भी पूरा योग दिया।

सब संप्रदायों के कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्मसंस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान् के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्णभक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खंडकाव्य, महाकाव्य आदि के लिये पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सब ने गाई।

भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और अवतारों की भावना देश में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी पर वैष्णव धर्म के सांप्रदायिक स्वरूप का संघटन दक्षिण में ही हुआ। वैदिक परंपरा के अनुकरण पर अनेक संहिताएँ, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ इत्यादि तैयार हुए। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्तिक्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य भाव का रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मंदिरों की देवदासी-प्रथा विशेष रूप में सहायक हुई। माता-पिता लड़कियों को मंदिरों में अर्पित कर आते थे जहाँ उनका विवाह भी ठाकुरजी के साथ हो जाता था। उनके लिये मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी। इन्हीं देवदासियों में कुछ प्रसिद्ध भक्तिनें भी हो गई हैं।

दक्षिण में अंडाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई है जिसका जन्म संवत् ७७१ में हुआ था। अंडाल के पद द्राविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में मिलते हैं। अंडाल एक स्थल पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्य भाव' की थी। मुसलमानी जमाने में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से 'अन्तरंग मिलन' 'मूर्च्छा' 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।

सूरदासजी—सूरदासजी का वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से केवल इतना ज्ञात होता है कि वे पहले गऊघाट (आगरे और मथुरा

के बीच) पर एक साधु या स्वामी के रूप में रहा करते थे और शिष्य किया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी का मंदिर बन जाने के पीछे एक बार जब वल्लभाचार्य्यजी गऊघाट पर उतरे तब सूरदास उनके दर्शन को आए और उन्हें अपना बनाया एक पद गाकर सुनाया। आचार्य्यजी ने उन्हें अपना शिष्य किया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों में करने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद-रचना की निपुणता देख वल्लभाचार्य्य जी ने उन्हें अपने श्रीनाथ जी के मंदिर की कीर्त्तन-सेवा सौंपी। इस मंदिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर संवत् १५७६ में पूरा बनवा कर खड़ा किया था। मंदिर पूरा होने के ११ वर्ष पीछे अर्थात् संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य्य जी की मृत्यु हुई।

श्रीनाथ जी के मंदिर-निर्माण के थोड़ा ही पीछे सूरदासजी वल्लभ-संप्रदाय में आए, यह 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"औरहु पद गाए तब श्रीमहाप्रभुजी अपने मन में बिचारे जो श्रीनाथजी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्त्तन को मंडान नाहीं कियो है, तातें अब सूरदासजी को दीजिए।"

अतः संवत् १५८० के आस पास सूरदासजी वल्लभाचार्य्य के शिष्य हुए होंगे और शिष्य होने के कुछ ही पीछे उन्हें कीर्त्तनसेवा मिली होगी। तब से वे बराबर गोवर्द्धन पर्वत पर ही मंदिर की सेवा में रहा करते थे, इसका स्पष्ट आभास उनकी 'सूरसारावली' के भीतर मौजूद है। तुलसीदास के प्रसंग में हम कह आए हैं कि भक्त लोग कभी कभी किसी ढंग से अपने को अपने इष्टदेव की कथा के भीतर डाल कर उनके चरणों तक अपने पहुँचने की भावना करते हैं*। तुलसी ने तो अपने को कुछ प्रच्छन्न रूप में पहुँचाया है, पर सूर ने

* देखो पृ० १४७।

प्रकट रूप में। कृष्णजन्म के उपरांत नंद के घर बराबर आनंदोत्सव हो रहे हैं। उसी बीच एक ढाढ़ी आकर कहता है—

> नंद जू! मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्धन तें आयो।
> तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥
> × × × ×
> जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाऊँ।
> हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ॥

वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के सामने गोवर्धन की तलहटी के पारसोली ग्राम में सूरदास की मृत्यु हुई। इसका पता भी उक्त 'वार्ता' से लगता है। गोसाईं विट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। इसके कितने पहले सूरदास का परलोकवास हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

'सूरसागर' समाप्त करने पर सूर ने जो 'सूरसागर-सारावली' लिखी है उसमें अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है—

> गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

तात्पर्य यह कि ६७ वर्ष के होने के कुछ पहले ही वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। सूरसागर समाप्त होने के थोड़ा ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रंथ सूरदास का 'साहित्य लहरी' है जिसमें अलंकारों और नायिका-भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कूट पद हैं। इसका रचनाकाल सूर ने इस प्रकार दिया है—

> मुनि पुनि रसन के रस लेख।
> दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत पेख॥

इसके अनुसार संवत् १६०७ में 'साहित्य-लहरी' समाप्त हुई। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रंथ सूरसागर से छुट्टी पाकर ही सूर ने हस्तगत किया होगा। उसके दो वर्ष पीछे यदि 'सूरसारावली' की रचना हुई तो कह सकते हैं कि संवत् १६०९ में सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८२

वर्ष को मानें तो उनका जन्मकाल सं० १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल सं० १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।

'साहित्य-लहरी' के अंत में एक पद है जिसमें सूर अपनी वंश-परंपरा देते हैं। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चंद-बरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। चंदकवि के कुल में हरीचंद हुए जिनके सात पुत्रों में सबसे छोटे सूरजदास या सूरदास थे*। शेष ६ भाई जब मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारे गए तब अंधे सूरदास बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे कुएँ में गिर पड़े और ६ दिन उसी में पड़े रहे। सातवें दिन कृष्ण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मणकुल-द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखों से मैंने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। कुएँ से जब भगवान् ने उन्हें बाहर निकाला तब वे ज्यों के त्यों अंधे हो गए और ब्रज में आकर भजन करने लगे। वहाँ गोसाईंजी ने उन्हें 'अष्ट-छाप' में लिया।

हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही—

'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वैहै नास'

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्र-कुल' से साफ पेशवाओं की ओर संकेत है। इसे खींचकर अध्यात्म-पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

सारांश यह कि हमें सूरदास का जो थोड़ा-सा वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में मिलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। यह

* देखो पृ० ५१ पर चंद का वंशवृक्ष।

'वार्ता' भी यद्यपि वल्लभाचार्यजी के पौत्र गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती। इसमें कई स्थल गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई बातों का बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है और वल्लभाचार्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत बुरा भला कहा गया है और गालियाँ तक दी गई हैं। ढंगढांग से यह वार्ता गोकुलनाथजी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

'भक्तमाल' में सूरदास के संबंध में केवल एक ही छप्पय मिलता है—

> उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
> वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
> प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
> जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
> विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
> सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस छप्पय में सूर के अंधे होने भर का संकेत है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है।

जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख में जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है वहीं का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे दो उल्लेख लोगों को मिले हैं—

( ) 'आईन अकबरी' में अकबर के दरबार में नौकर गवैयों, बीनकारों आदि कलावंतों की जो फिहरिस्त है उसमें बाबा रामदास और उनके बेटे सूरदास दोनों के नाम दर्ज हैं। इसी ग्रंथ में यह भी लिखा है कि सब कलावंतों की सात मंडलियाँ बना दी गई थीं। प्रत्येक मंडली सप्ताह में एक बार दरबार में हाजिर होकर बादशाह का मनोरंजन करती थी। अकबर संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास संवत् १८ के आसपास ही वल्लभाचार्यजी के शिष्य

हो गए थे और उसके पहले भी विरक्त साधु के रूप में गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा में संवत् १६१३ के बहुत बाद वे दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे ? अतः 'आईन अकबरी' के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।

(२) 'मुंशियात अब्बुलफ़ज़ल' नामक अब्बुलफ़ज़ल के पत्रों का एक संग्रह है जिसमें बनारस के किसी संत सूरदास के नाम अब्बुलफ़ज़ल का एक पत्र है। बनारस का करोड़ी इन सूरदास के साथ अच्छा बरताव नहीं करता था इससे उसकी शिकायत लिखकर इन्होंने शाही दरबार में भेजी थी। उसी के उत्तर में अब्बुलफ़ज़ल का पत्र है। बनारस के ये सूरदास बादशाह से इलाहाबाद में मिलने के लिये इस तरह बुलाए गए हैं।

"हज़रत बादशाह इलाहाबाद में तशरीफ़ लाएँगे। उम्मीद है कि आप भी शर्फ़ मुलाज़मत से मुशर्रफ़ होकर मुरीद हक़ीक़ी होंगे और खुदा का शुक्र है कि हज़रत भी आपको हक़-शिनास जानकर दोस्त रखते हैं।" (फ़ारसी का अनुवाद)

इन शब्दों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये कोई ऐसे संत थे जिनके अकबर के 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की संभावना अब्बुल-फ़ज़ल समझता था। संभव है कि ये कबीर के अनुयायी कोई संत हों। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है। एक तो संवत् १६४० में, फिर संवत् १६६१ में। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को मानें तो भी उस समय हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हें तब तक जीवित मानें तो वे १०० वर्ष के ऊपर रहे होंगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलों में क्यों पड़ने जायँगे, या उनके 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की आशा कैसे की जायगी ?

श्रीवल्लभाचार्य्यजी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथजी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुंदर

सुंदर पदों की रचना कर चुके थे। इनसे गोसाईं विट्ठलनाथजी ने इनमें से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

कृष्णभक्ति-परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फूला फिरता है। अतः इन कृष्णभक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि वे अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे; तुलसीदासजी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये जिस *शृंगारमयी* लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषयवासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया, उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिंदी-काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान में गीतकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया। आगे चलकर अलंकार काल के कवियों ने अपनी *शृंगारमयी* मुक्तक कविता के लिये राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार

कृष्ण-संबंधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में ही हुआ, प्रबंध क्षेत्र में नहीं। बहुत पीछे संवत् १८०६ में ब्रजवासीदास ने रामचरित-मानस के ढँग पर दोहा चौपाइयों में प्रबंध-काव्य के रूप में कृष्णचरित वर्णन किया, पर ग्रंथ बहुत साधारण कोटि का हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंधकाव्य के लिये पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये आवश्यक है। कृष्णभक्त कवियों की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवनलीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्णभक्त कवियों तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, इसमें कोई संदेह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य्यजी की आज्ञा से सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। इनके सूरसागर में वास्तव में भागवत के दशम स्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गई है। सूरसागर में कृष्णजन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यंत विस्तार से फुटकल पदों में गाई गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यंत मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के संबंध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

गीतों की परंपरा तो सभ्य असभ्य सब जातियों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। सभ्य जातियों ने शिक्षित साहित्य के भीतर भी उनका समावेश किया है। शिक्षित रूप में आकर उनका रूप पंडितों की काव्य परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे कैसे प्रसंग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आए हैं और भाव की किन किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यंजना करते आए हैं इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है। किसी देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्हीं गीतों से मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में शृंगार और करुण दोनों का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा ऊदल आदि पुरुषों के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अंतर्वर्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस समय कार्य्य में उन्हीं का हाथ लगाना ठीक है जिन्हें भारतीय संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिनमें पूरी ऐतिहासिक दृष्टि हो।

स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतों को ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि उनमें स्वकीया के ही प्रेम की सरल गंभीर व्यंजना है। परकीया प्रेम के जो गीत हैं वे कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेम-लीला को ही लेकर चले हैं इससे उन पर भक्ति या धर्म का भी कुछ रंग चढ़ा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागों में पाए जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति (संवत् १४६०) की पदावली में हमें उनका साहित्यिक रूप मिलता है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के तो भाव भी बिलकुल मिलते हैं जैसे—

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥

× × × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध में रहती हैं तब भी, नहीं रहती हैं तब भी, दोनों अवस्थाओं में उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीड़े की सी रहती है जिसके दोनों छोरों पर आग लगी हो। अब इसी भाव का सूर का यह पद देखिए—

सुनौ स्याम! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति विरह विरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा विरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

(सूरसागर पृ० ५६४ वेंकटेश्वर)

'सूरसागर' में जगह जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए—

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए—

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराइ।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन-चंद बस किए सुनत ही कानन॥

जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गानेवाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ? हिंदी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ, इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति में, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर, यह दोहा कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बल बीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता

न सूझा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं। दो चार चित्र देखिए—

(१) काहे को आरि करत मेरे मोहन ! यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी ॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी ॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेनु-तन-मंडित मुख दधि-लेप किए ॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैयाँ ॥

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यौ।
आरि करी मनमोहन मेरो अंचल आनि गह्यौ ॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वै ढरकि रह्यौ ॥

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्द्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के ये वचन देखिए—

खेलत मैं को काको गुसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें बड़ नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक

श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग-पक्ष है। दानलीला, माखनलीला, चीरहरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओं पर सहस्रों पद भरे पड़े हैं। राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, यही देखिए—

(क) करि ल्यौ न्यारी, हरि, आपनि गैयाँ।
नहिँ न बसात लाल कछु तुमसो सबै ग्वाल इक ठैयाँ।

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छवि बाढ़ी।

शृंगार के अंतर्गत भावपक्ष और विभावपक्ष दोनों के अत्यंत विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं, जैसे—

देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिँ पटतर एक सैन॥
राजिवदल इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय॥

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं—

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नैन नीर के, सजनी! मूल पतार गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

आँख तो आँख, कृष्ण की मुरली तक में प्रेम के प्रभाव से गोपियों को ऐसी सजीवता दिखाई पड़ती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में खर्च कर देती हैं—

दुरती तब बातनहि मानति ।
सुन री सखी ! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति ॥
रचति एक चार्य ठाढ़े करि, करि मनि भीर बनावति ।
मधुप गौरि अधर-सुधा पर करपल्लव सौं कर चढ़ावति ।
मनहुँ कुमुद बिच चन्द्र हुए सस पर बीधि बँधावति ॥

कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होनेवाले रास की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिये सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक प्यारे प्रेमलोक की आनंद-छटा अपने बंद नैनों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरहसागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता। वियोग की जितने प्रकार की दशाएँ हो सकती हैं सबका समावेश उसके भीतर है। कभी तो गोपियों को संध्या होने पर यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ बन तें चलि आवते ।
दूरहि तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

कभी वे अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

परंपरा से चले आते हुए बारहमासा आदि सब विषयों का विधान सूर के वियोग-वर्णन के भीतर है कोई बात छूटी नहीं है।

सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अंतर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है।

जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथा-वस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो काव्यधारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियों आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परंपरागत हैं, उनमें नूतन उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है। भ्रमरगीत के अंतर्गत अलबत सूर ने आभ्यंतर पक्ष का भी विस्तृत उद्घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग-कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं। उद्धव के बहुत बकने पर वे कहती हैं—

> ऊधो! तुम अपनो जतन करौ।
> हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ?
> जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहति हैं जी की।
> कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्त-शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्क-पद्धति पर नहीं—किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं।

जिससे सखाभाव में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। सूर के समय में निर्गुण संत सम्प्रदाय की बातें जोर शोर से चल रही थीं। इसी से उपयुक्त अवसर देखकर सूर ने इस प्रसंग का समावेश कर दिया। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती हैं—

> निर्गुन कौन देस को बासी?
> मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों बक बक करता है?

> सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
> सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई संबंध हो सकता है, यह तो बताओ—

> रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
> अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
> मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत?
> नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
> तन त्रिभंग करि, नटवर बपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत?
> सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत?

अंत में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुणों में ही अधिक रस जान पड़ता है—

> ऊधो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
> सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

(२) नंददास—ये सूरदासजी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप में है। इनका कविता-काल सूरदासजी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५ या उसके और आगे तक माना जा सकता

है। इनका जीवन-वृत्त पूरा पूरा और ठीक ठीक नहीं मिलता। नाभाजी के भक्तमाल में इन पर जो छप्पय है उसमें जीवन के संबंध में इतना ही है—

चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पथ में पगे।

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। इनके गोलोकवास के बहुत दिनों पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के नाम से जो "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" लिखी गई उसमें इनका थोड़ा सा वृत्त दिया गया है। उक्त वार्त्ता में नंददासजी तुलसीदासजी के भाई कहे गए हैं। गोकुलनाथजी का अभिप्राय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदासजी से ही है, यह पूरी वार्त्ता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि नंददासजी का कृष्णोपासक होना राम के अनन्य भक्त उनके भाई तुलसीदासजी को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने उलाहना लिखकर भेजा। यह वाक्य भी उसमें आया है—"सो एक दिन नंददासजी के मन में ऐसी आई। जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा करी है सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।" गोस्वामीजी का नंददास के साथ वृंदावन जाना और वहाँ "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेव हाथ" वाली घटना भी उक्त वार्त्ता में ही लिखी है। पर गोस्वामीजी का नंददासजी से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्त्ता की बातों को, जो वास्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने और वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये पीछे से लिखी गई हैं, प्रमाण-कोटि में नहीं ले सकते।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददासजी सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनों के लिए गोकुल चले गए। वहाँ भी ये जा पहुँचे।

अंत में यहीं पर गोसाईं विट्ठलनाथजी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। ध्रुवदासजी ने भी अपनी भक्तनामावली में इनकी भक्ति की प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा है।

अष्टछाप में सूरदासजी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "और कवि गढ़िया नंददास जड़िया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है जो रोला छंदों में लिखी गई है। इसमें जैसा कि नाम से ही प्रकट है कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है पर नंददासजी में ये बातें पूर्ण रूप में पाई जाती हैं। 'रास-पंचाध्यायी' के अतिरिक्त इन्होंने ये पुस्तकें लिखी हैं—

भागवत दशमस्कंध, रुक्मिणीमंगल, सिद्धांत-पंचाध्यायी, रूपमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थनाममाला (कोश), दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमरगीत और सुदामाचरित। दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य में)। दो सौ से ऊपर इनके फुटकल पद भी मिले हैं जो शीघ्र प्रकाशित होंगे। जहाँ तक ज्ञात है इनकी चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं—रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी और अनेकार्थनाममाला। इनमें रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ही प्रसिद्ध हैं अतः उनसे कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

(रास पंचाध्यायी से)

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक।
कुंकुम मंडित-बदन प्रिया जनु नागरि नायक॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक-छटा सी किरन कुंज रंध्रन जब आई।
मानहु वितत बितान सुदेस तनाव तनाई॥
तब लीनो कर कमल योगमाया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरन सुर जु रली॥

(भ्रमरगीत से)

कहन स्याम-सँदेस एक मैं तुम पै आयो।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ।
कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ॥
सुनो ब्रजनागरी।

जौं उनके गुन होय, बेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा-रुचि ऊपर सुख सानै॥
वेद पुराननि खोजि कै पायो कतहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि तुम कहौ अकासहि टेक॥
सुनो ब्रजनागरी।

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें?
वा गुन की परछाँह री माया-दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल बारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के।

(३) कृष्णदास—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप में थे। यद्यपि ये शूद्र थे पर आचार्य्यजी के बड़े कृपापात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गए थे। "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" में इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं

विट्ठलनाथजी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र महाराज बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया। पीछे गोसाईंजी इस बात से बड़े दुखी हुए और इनको कारागार से मुक्त कराके प्रधान के पद पर फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने भी और सब कृष्णभक्तों के समान राधा कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार रस के ही पद गाए हैं। जुगलमान-चरित्र नामक इनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रंथ और कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण। फुटकल पदों के संग्रह इधर उधर मिलते हैं। सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है। इनके कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

तरनि-तनया तट आवत है प्रात समय
कंदुक खेलत देख्यो आनँद को कँदवा॥
नूपुर पद कुनित, पीतांबर कटि बाँधे
लाल उपरना, सिर मोरन के चँदवा॥

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंदसुवन के संगम सुखकर अधिक बिराजति गोपी॥
मनहुँ बिधाता गिरिधर पिय हित सुरत धुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुनु री भामिनि! सघन चंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हे प्रेमपुंज की चोपी॥

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

कहते हैं कि इसी अंतिम पद को गाकर कृष्णदासजी ने शरीर छोड़ा था। इनका कविता-काल संवत् १६०० के आगे पीछे माना जा सकता है।

(४) परमानंददास—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप में थे। ये संवत् १६०६ के आसपास वर्त्तमान थे। इनका निवासस्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अनुमान किए जाते हैं। ये अत्यंत तन्मयता के साथ बड़ी ही सरस कविता करते थे। कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य्यजी कई दिनों तक तन बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकल पद कृष्ण-भक्तों के मुँह से प्राय सुनने में आते हैं। इनके ८३५ पद 'परमानंद सागर' में हैं। दो पद देखिए—

कहा करौं वैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छायँ।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

राधे जू हारावलि टूटी।
उरज कमलदल माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी॥
बर उर उरज करज बिच अंकित, बाहु जुगल वलयावलि फूटी।
कंचुकि चीर बिबिध रँग रंजित गिरधर अधर माधुरी घूँटी॥
आलस वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानंद प्रभु सुरति समय रस मदन नृपति की सेना लूटी॥

(५) कुंभनदास—ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमा-नंददासजी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्य्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ॥
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो नागर लेहु दुहैया॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैया।
कुंभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि-गोवरधन-रैया॥

(६) चतुर्भुजदास—ये कुंभनदास जी के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियों में हैं। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं—द्वादशयश, भक्ति-प्रताप, हितजू को मंगल।

इनके अतिरिक्त फुटकल पदों के संग्रह भी इधर उधर पाए जाते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है—

जसोदा! कहा कहौं हौं बात?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जो बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात॥

(७) छीतस्वामी—ये विट्ठलनाथजी के शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के एक सुसम्पन्न पंडा थे और राजा बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये पहले

बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गोस्वामी बिट्ठलनाथजी से दीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय संवत् १६१२ के इधर मान सकते हैं। इनके फुटकल पद ही लोगों के मुँह से सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। "हे विधना तो सों अँचरा पसारि माँगौं जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो" पद इन्हीं का है। अष्टछाप के और कवियों की सी मधुरता और सरसता इनके पदों में भी पाई जाती है, देखिए—

> भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी।
> लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी॥
> बिनु गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी।
> छीतस्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी॥

(८) गोविंदस्वामी—ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भाँति आकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछाप में लिया। ये गोवर्द्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदंबों का एक अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक "गोविंद स्वामी की कदंब-खंडी" कहलाता है। इनका रचना-काल संवत् १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैए भी थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये आया करते थे। इनका बनाया एक पद दिया जाता है—

> प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबटि न्हवावति।
> करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति॥
> छुटे बंद बागे अति सोभित, बिच बिच चोव अरगजा लावति।
> सूथन लाल फुँदना सोभित, आजु कि छबि कछु कहति न आवति॥

बिबिध कुसुम की माला कर धरि श्री कर मुरली बैन बजावति।
लै दरपन देखै श्रीमुख को भौंहि द मधु करनि सिर भावति॥

(३) हितहरिवंश—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था। राधावल्लभी संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है, जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओरछानरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था।

कहते हैं हितहरिवंशजी पहले माध्वानुयायी गोपालभट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अतः हित संप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अंतर्गत मान सकते हैं। हित-हरिवंशजी के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रों के नाम वनचंद्र, कृष्णचंद्र, गोपीनाथ और मोहनलाल थे। गोसाईंजी ने संवत् १५८२ में श्रीराधावल्लभजी की मूर्ति वृंदावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १ श्लोकों का 'राधासुधानिधि' आप ही का रचा कहा जाता है। ब्रजभाषा की रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी। आपके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि उसमें ८४ पद हैं। प्रेमदास की लिखी इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी टीका (५ पृष्ठों की) ब्रजभाषा गद्य में है।

इनके द्वारा ब्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँची है। इनके कई शिष्य अच्छे अच्छे कवि हुए हैं। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे हैं। सेवकजी ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुंदर रचना कर गए हैं। अपनी

रचना की मधुरता के कारण हित हरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १६०० से संवत् १६४० तक माना जा सकता है। 'हित चौरासी' के अतिरिक्त इनकी फुटकल बानी भी मिलती है जिसमें सिद्धांत संबंधी पद्य हैं। इनके 'हित चौरासी' पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी है। वृंदावन-दास ने इनकी स्तुति और वंदना में "हितजी की सहस्रनामावली और चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मंगल' लिखा है। इसी प्रकार हित-परमानंदजी और ब्रजजीवनदास ने इनकी जन्म बधाइयाँ लिखी हैं। हित हरिवंशजी की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जिनसे इनकी वर्णन प्रचुरता का परिचय मिलेगा—

(सिद्धांत-संबंधी कुछ फुटकल पदों से)

रहौ कोउ काहू मनहि दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥
जे अवतार-कदंब भजत हैं धरि दृढ़ ब्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन बिहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत जे घर घर कौन काज इमि जिए?
हितहरिवंस अनत सचु नाहीं बिन या रसहि पिए॥

(हित चौरासी से)

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदंड, नैन सर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन समनी॥
हितहरिवंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्व दुरित-दवनी॥

इस पद को सुन जीव गोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा।

अनाराध्य राधा पदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृंदाटवीं तत्पदाङ्कम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुत श्यामसिंधो रसस्यावगाह॥

यह श्लोक पढकर भट्टजी मूर्च्छित हो गए। फिर सुध आने पर सीधे वृंदावन में जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तांत को यदि ठीक मानें तो इनकी रचनाओं का आरंभ १५८० से मानना पड़ता है और अंत संवत् १६०० के पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदासजी के रचनाकाल के साथ साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।

संस्कृत के चूडांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुंदर है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा कविता भी की है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

जयति श्रीराधिके, सकल-सुख-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतन-लीन-मन, रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख हिम किरन की चकोरी॥
कृष्ण-दृग भृंग विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण दृग मृगज - बंधन सुडोरी।
कृष्ण अनुराग - मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण गुन गान रससिंधु बोरी॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी॥

भूलति नागरि नागर लाल ।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल ॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल ।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छबि प्रगट भई तिहि काल ॥
सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकति बेनी नाल ।
जनु पिय मुकुट बरहि-भ्रम बस तहँ ब्याली बिकल बिहाल ॥
मल्लीमाल प्रिया के उर की, पिय तुलसीदल माल
जनु सुरसरि रवितनया मिलिकै सोभित स्रेनि-मराल ॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि सोभा बिसद बिसाल ।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि मन पर्यो सुरस-जंजाल ॥

(११) मीराबाई—ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा-कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरंभ ही से कृष्णभक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति का परलोकवास हो गया। इनकी भक्ति दिन पर दिन बढ़ती ही गई। ये प्रायः मंदिर में जाकर उपस्थित भक्तों और संतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने आनंद-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। कहते हैं कि इनके इस राजकुल-विरुद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रुष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हें कई बार विष देने तक का प्रयत्न किया गया पर भगवत्कृपा से विष का कोई प्रभाव इन पर न हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में घूम घूमकर भजन सुनाया करती थीं। जहाँ जाती वहाँ इनका देवियों का सा सम्मान होता। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को यह पद लिखकर भेजा था—

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषन दूषन हरन गोसाईं ।
बारहिं बार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक-समुदाई ॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई ।
साधु-संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई ॥
मेरे मात पिता के सम हौ, हरिभक्तन्ह सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई ॥

इस पर गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
× × × — ×
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै, बहुतक, कहौ कहाँ लौं ॥

पर मीराबाई की मृत्यु द्वारका में संवत् १६०३ में हो चुकी थी। अत यह जनश्रुति किसी की कल्पना के आधार पर ही चल पड़ी।

मीराबाई की उपासना "माधुर्य" भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं। पहले यह कहा जा चुका है कि इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य है*। इसी ढंग की उपासना का प्रचार सूफ़ी भी कर रहे थे अत उनका संस्कार भी इन पर अवश्य कुछ पड़ा। जब लोग इन्हें खुले मैदान मंदिरों में पुरुषों के सामने जाने से मना करते तब ये कहतीं कि 'कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ ?' मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी-मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ

---

* देखो पृ० १७८ ।

कहे जाते हैं—नरसीजी का मायरा, गीतगोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।

इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

——

मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन॥
जो चरन प्रह्लाद परसे इंद्र पदवी हरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन॥
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो नखसिखौ श्री भरन।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हे तरी गौतम घरनि॥
जिन चरन कालीहि नाथ्यो गोपलीला-करन।
दास मीरा लाल गिरिधर अगम तारन तरन॥

(१२) स्वामी हरिदास—ये महात्मा वृंदावन में निंबार्क-मतांतर्गत टट्टी-संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविता-काल १६ से १६१७ ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिये गया था। कहते हैं कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जान बूझकर गाने में कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदासजी ने उसी गान को शुद्ध करके गाया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी

चाही पर इन्होंने स्वीकृत न की। इनका जन्म-संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि सहचरिसरनदासजी ने, जो इनकी शिष्यपरंपरा में थे, लिखा है। वृंदावन से उठकर स्वामी हरिदासजी कुछ दिन निधुवन में रहे थे। इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ कुछ ऊबड़ खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं। इनके पदों के तीन चार संग्रह 'हरिदासजी को ग्रंथ', 'स्वामी हरिदासजी के पद', 'हरिदासजी की बानी' आदि नामों से मिलते हैं। एक पद देखिए—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौ, त्योंही त्योंही रहियत हौं, हे हरि !
और अपरचै पाय धरौं सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥
जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं जो तुम राखौ पकरि ।
कहै हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि ॥

(१३) **सूरदास मदनमोहन**—ये अकबर के समय में सँडीले के अमीन थे। जाति के ब्राह्मण और गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। ये जो कुछ पास में आता प्राय सब साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। कहते हैं कि एक बार सँडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपए सरकारी खजाने में आए थे। इन्होंने सबका सब, साधुओं को खिला पिला दिया और शाही खजाने में कंकड़ पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट यह लिखकर रख दिए—

तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके ।
सूरदास मदनमोहन आधी रातहि सटके ॥

और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हें फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर वृंदावन में रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरस होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूरसागर में मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं।

कुछ फुटकल पद लोगों के पास मिलते हैं। इनका रचना-काल संवत् १५९ और १६ के बीच अनुमान किया जाता है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

> मधु के मतवारे स्याम! खोलौ प्यारे पलकैं।
> सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं॥
> सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े दरस हेतु कलकैं।
> नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं॥
> कटि पीतांबर मुरली कर स्रवन कुंडल झलकैं।
> सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भल कैं॥

> नवल किसोर नवल नागरिया।
> अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
> करत बिनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
> यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यौं जरिया॥
> उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
> सूर मदनमोहन बलि जोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलारिया॥

(१४) श्रीभट्ट—ये निंबार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा में है। पद भी प्रायः छोटे छोटे हैं। इनकी कृति भी अधिक विस्तृत नहीं है पर 'युगल शतक' नाम का इनका १ पदों का एक ग्रंथ कृष्णभक्तों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। 'युगल शतक' के अतिरिक्त इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'आदि बानी' भी मिलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी कभी उसी पद के ध्यानानुरूप इन्हें भगवान् की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी। एक बार ये यह मलार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना ।
स्यामाजू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना ॥

कहते हैं कि राधाकृष्ण इसी रूप में इन्हें दिखाई पड़ गए और इन्होंने पद इस प्रकार पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना ।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल सेना ॥

इनके 'युगलशतक' से दो पद उद्धृत किए जाते हैं—

ब्रजभूमि मोहनी मैं जानी ।
मोहन कुंज, मोहन वृंदावन, मोहन जमुना पानी ॥
मोहन नारि सकल गोकुल की बोलति अमरित बानी ।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी ॥

बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद ।
गौर बदनि वृषभानु-नंदिनी, स्यामबरन नँद नंद ॥
गोलक रहे लुभाय रूप में निरखत आनँदकंद ।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन क्यों छूटै दृढ़ फंद ॥

(१५) व्यासजी—इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था और ये ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ओरछानरेश मधुकर साह के ये राजगुरु थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे, पीछे हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। इनका काल संवत् १६२० के आसपास है। पहले ये संस्कृत के शास्त्रार्थी पंडित थे और सदा शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार रहते थे। एक बार वृंदावन में जाकर गोस्वामी हित-हरिवंशजी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। गोसाईंजी ने नम्र भाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो ।
जहँ तहँ बिपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो ॥

यह पद सुन व्यासजी चेत गए और हितहरिवंशजी के अनन्य भक्त हो गए। उनकी मृत्यु पर इन्होंने इस प्रकार अपना शोक प्रकट किया—

ऐसो रस रसिकन कौ आधार।
बिन हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार?
को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार?
वृंदावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार?
पद-रचना अब कापै ह्वै है? निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगो ठाट सिंगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठी थार॥

जब हितहरिवंशजी से दीक्षा लेकर व्यासजी वृंदावन में ही रह गए तब महाराज मधुकरसाह इन्हें ओरछा ले जाने के लिए स्वयं आए, पर ये वृंदावन छोड़कर न गए और अधीर होकर इन्होंने यह पद कहा—

वृंदावन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधुगति मति सुख, फल फूलन की गंध॥
इनहिं पीठि दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध।
व्यास इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परियो कंध॥

इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा व्यापक है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला और शृंगार-लीला में लीन रहने पर भी बीच बीच में संसार पर भी दृष्टि डाला करते थे। इन्होंने तुलसीदासजी के समान खलों, पाखंडियों आदि को भी स्मरण किया है और रसगान के अतिरिक्त तत्त्व-निरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए हैं। प्रेम को इन्होंने शरीर व्यवहार से अलग 'अनन्य' अर्थात् शुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु कहा है। ज्ञान वैराग्य और भक्ति तीनों पर बहुत से पद और साखियाँ इनकी मिलती हैं। इन्होंने एक 'रास पंचाध्यायी' भी लिखी है जिसे कुछ लोगों ने भूल से सूरसागर में मिला लिया है। इनकी रचना के थोड़े से उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

आज कछु कुंजन में बरषा सी ।
बादल दल में देखि सखी री ! चमकति है चपला सी ॥
नान्ही नान्ही बूंदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी ।
मंद मंद गरजनि सी सुनियत, नाचति मोर-सभा सी ॥
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति बोलति कोकिलका सी ।
इंद्रवधू छवि छाइ रही मनु गिरि पर अरुन घटा सी ॥
उमगि महीरुह त्यो महि फूली, भूली मृगमाला सी ।
रटति व्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी ॥

सुघर राधिका प्रवीन बीना, वर रास रच्यो,
श्याम संग वर सुढंग तरनि तनया तीरे ।
आनँदकंद वृंदावन सरद मंद मंद पवन,
कुसुमपुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे ॥
रुनित किंकनी सुचार, नूपुर तिमि वलय हार
अंग वर मृदंग ताल तरल रंग भीरे ।
गावत अति रंग रह्यो, मोपै नहि जात कह्यो,
व्यास रसप्रवाह बह्यो निरखि नैन सीरे ॥

(साखी) व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार ।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चंदन भार ॥
अपने अपने मत लगे वादि मचावत सोर ।
ज्यों त्यों सबको सेइबो एकै नंदकिसोर ॥
प्रेम अगन या जगत में जानै बिरला कोय ।
व्यास सतन क्यों परसिहै पचि हारयो जग रोय ॥
सती, सूरमा संत जन इन समान नहि और ।
अगम पंथ पै पग धरै, डिगे न पावैं ठौर ॥

(१६) रसखान—ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे । इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में अपने को शाही खानदान का कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान ।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छाँड़ि रसखान ॥

संभव है पठान बादशाहों की कुल-परंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्णभक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथजी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में इनका वृत्तांत आया है। उक्त वार्ता के अनुसार ये पहले एक बनिए के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन इन्होंने किसी को कहते हुए सुना कि भगवान् से ऐसा प्रेम करना चाहिए जैसा रसखान का उस बनिए के लड़के पर है। इस बात से मर्माहत होकर ये श्रीनाथजी को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोकुल आए और वहाँ गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। यही आख्यायिका एक दूसरे रूप में भी प्रसिद्ध है। कहते हैं जिस स्त्री पर ये आसक्त थे वह बहुत मानवती थी और इनका अनादर किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फारसी तर्जुमा पढ़ रहे थे। उसमें गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हें ध्यान हुआ कि उसी से क्यों न मन लगाया जाय जिस पर इतनी गोपियाँ मरती थीं। इसी बात पर ये वृंदावन चले आए। प्रेमवाटिका के इस दोहे का संकेत लोग इस घटना की ओर बताते हैं—

> तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
> प्रेमदेव की छबिहि लखि, भए मियाँ रसखान॥

इन प्रवादों से कम से कम इतना अवश्य सूचित होता है कि आरंभ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। वही प्रेम अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति में परिणत हुआ। प्रेम के ऐसे सुंदर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार संबंधी कवित्त-सवैयों को ही "रसखान" कहने लगे—जैसे "कोई रसखान सुनाओ"। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबर-मुक्त होती थी। शुद्ध ब्रज भाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका रचना-काल संवत् १६४ के उपरांत ही माना जा सकता है क्योंकि गोसाईं विट्ठलनाथजी का गोलोकवास १६४२ में हुआ था। प्रेमवाटिका का रचनाकाल सं० १६७१ है।

अत उनके शिष्य होने के उपरात ही इनकी मधुर वाणी स्फुरित हुई होगी। इनकी कृति परिमाण में तो बहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करनेवाली है। इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेम-वाटिका (दोहे) और सुजान-रसखान (कवित्त-सवैया)। और कृष्णभक्तों के समान इन्होंने 'गीतकाव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त सवैयों में अपने सच्चे प्रेम की व्यजना की है। व्रजभूमि के सच्चे प्रेम से परिपूर्ण ये दो सवैये इनके अत्यत प्रसिद्ध हैं—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं मँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरदर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब की डारन॥

— —

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक हो कलधौत के धाम करील के कुजन ऊपर वारौं॥

अनुप्रास की सुदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है। बीच बीच में भावों की बड़ी ही सुदर व्यजना है। लीला पक्ष को लेकर इन्होंने बड़ी रजनकारिणी रचनाएँ की हैं।

भगवान् प्रेम के वशीभूत हैं, जहाँ प्रेम है वहीं प्रिय है, इस बात को रसखान यों कहते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन-गानन, वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि परयो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायँन॥

कुछ और नमूने देखिए—

नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर इन्होंने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमें अपने समय तक के भक्तों का उल्लेख किया है। इनकी कई पुस्तकों में संवत् दिए हैं, जैसे—सभा-मंडली १६८१, वृंदावन-सत १६८६ और रसमंजरी १६९८। अतः इनका रचना-काल संवत् १६६० से १७०० तक माना जा सकता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

('सिंगार-सत' से)

रूपजल उठत तरंग हैं कटाक्षन के,
अंग अंग भौंरन की अति गहराई है।
नैनन को प्रतिबिंब पर्‍यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ, ऐसी उर आई है॥
अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल-मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है॥

('नेहमंजरी' से)

प्रेम बात कछु कहि नहिं जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम बात सुनि बौरो होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। हित ध्रुव बात बनैगी तबहीं॥

('भजन-सत' से)

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव वेगि विचारि कै बसि वृंदाबन आय॥
बसि वृंदाबन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेमलीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि॥
सकल सार को सार, भजन तू करि रस-रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरी, बहु बीती॥

कृष्णोपासक भक्त कवियों की परंपरा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि आगे और

नहीं हुए। कृष्णगढ़नरेश महाराज नागरीदासजी अलबेली अलिजी चाचा हितवृंदावनदासजी भगवत् रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त बराबर होते गए हैं जिन्होंने बड़ी सुंदर रचनाएँ की हैं। पर पूर्वोक्त काल के भीतर ऐसे भक्त कवियों की जितनी प्रचुरता रही है उतनी आगे चलकर नहीं। ये कुछ अधिक अंतर देकर हुए हैं। ये कृष्ण भक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम-माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्यक्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आ आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य प्रवाह उमड़ा उनका संक्षिप्त उल्लेख आरंभ में हो चुका है*। वह प्रवाह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित न था। वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था और न भय रोक सकता था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर ऐसे योग्य और गुणग्राही शासक का भारत के अधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक बात थी। अतः सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर द्वारा संस्थापित शांति-सुख को गिनना भारी भूल है। उस शांति-सुख का परिणामस्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह दूसरे ढँग का था। उसका कोई एक निश्चित स्वरूप न था, सच पूछिए तो वह उन कई प्रकार की रचना पद्धतियों का पुनरुत्थान था जो पठानों के शासन-काल की अशांति और विप्लव के बीच दब सी गई थीं और धीरे धीरे लुप्त होने जा रही थीं।

पठान शासक भारतीय संस्कृति से अपने कट्टरपन के कारण दूर ही दूर रहे। अकबर की चाहे नीति-कुशलता कहिए, चाहे उदारता, उसने देश की परंपरागत संस्कृति में पूरा योग दिया जिससे कला के क्षेत्र में फिर से उत्साह का संचार हुआ। जो भारतीय कलावंत छोटे-मोटे राजाओं के यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए

---

* देखो पृष्ठ ६८—७०।

संगीत को सहारा लिए हुए थे वे अब शाही दरबार में पहुँचकर बादशाह को भक्ति के बीच अपना करतब दिखाने लगे। जहाँ बचे हुए हिंदू राजाओं की सभाओं में ही कविजन थोड़ा बहुत उत्साहित या पुरस्कृत किए जाते थे वहाँ अब बादशाह के दरबार में भी उनका सम्मान होने लगा। कवियों के सम्मान के साथ साथ कविता का सम्मान भी यहाँ तक बढ़ा कि अब्दुर्रहीम खानखाना ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या बादशाह तक ब्रजभाषा की ऐसी कविता करने लगे—

जाको जस है जगत में जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहि।
आहट तें अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहि॥
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिए अहि बालहि॥

नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

यह अनुकूल परिस्थिति हिंदी-काव्य को अग्रसर करने में अवश्य सहायक हुई। वीर, शृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिए विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरंभकाल में दिखाया जा चुका है मुक्तक कविताएँ अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय कवित्त-सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त प्रबंध-काव्य-परंपरा ने भी जोर पकड़ा और अनेक अच्छे आख्यान-काव्य भी इस काल में लिखे गए। खेद है कि नाटकों की रचना की ओर ध्यान नहीं गया। हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को नाटक नहीं कह सकते। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि व्यासजी (संवत् १२ के आसपास) के देव नामक एक शिष्य का रचा देवमायाप्रपंचनाटक भी नाटक नहीं कहला सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि अकबर के राजत्वकाल में एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला, दूसरी ओर

भक्त कवियों की दिव्यवाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास में उसका एक विशेष स्थान हुआ। जिस काल में सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग और रहीम ऐसे निपुण और भावुक कवि दिखाई पड़े उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

(१) छीहल—ये राजपूताने की ओर के थे। संवत् १५७५ में इन्होंने पंच-सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी-मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमें पाँच सखियों की विरह-वेदना का वर्णन है। दोहे इस ढंग के हैं—

> देख्या नगर सुहावना अधिक सुचंगा थानु।
> नाउँ चँदेरी परगटा जनु सुरलोक समान॥
> ठाईं ठाईं सरवर पेखिय सूभर भरे निवाण।
> ठाईं ठाईं कुँया बावरी सोहइ फटिक सवाँण॥
> पंद्रह सै पचहत्तरै पूनिम फागुण मास।
> पंचसहेली वर्णई कवि छीहल परगास॥

इनकी लिखी एक 'बावनी' भी है जिसमें ५२ दोहे हैं।

(२) लालचदास—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होंने संवत् १५८५ में "हरि-चरित्र" और संवत् १५८७ में "भागवत दशम स्कंध भाषा" नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा में बनाई। ये दोनों पुस्तकें काव्य की दृष्टि से सामान्य श्रेणी की हैं और दोहे चौपाइयों में लिखी गई हैं। दशम स्कंध भाषा का उल्लेख हिंदुस्तानी के फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने किया है और लिखा है कि उसका अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में हुआ है। "भागवत भाषा" इस प्रकार की चौपाइयों में लिखी गई है—

> पंद्रह सौ सत्तासी जहिया। समय बिलंबित बरनौं तहिया॥
> मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरिबासर रजनी उजियारी॥

सकल संत कहँ भावा भावा। बलि बलि जैहैं जगदंबा॥
रामचरितो बरनि कथाता। स्वरूप रामनाम के भाव॥

(३) कृपाराम—इनका कुछ वृत्तांत ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १५९८ में रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ दोहों में बनाया। रीति या लक्षण ग्रंथों में यह बहुत पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियों ने बड़े छंदों के विस्तार में शृंगार-रस का वर्णन किया है पर मैंने सुघरता के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगों ने भी रीतिग्रंथ लिखे थे जो अब नहीं मिलते हैं। हिततरंगिणी के कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते जुलते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह ग्रंथ बिहारी के पीछे का है क्योंकि ग्रंथ में निर्माण-काल बहुत स्पष्ट रूप से दिया हुआ है।—

सिधि निधि सिव मुख चंद्र लखि माघ सुद्धि तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

दो में से एक बात हो सकती है—या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिला दिए गए। हिततरंगिणी के दोहे बहुत ही सरस, भावपूर्ण तथा परिमार्जित भाषा में हैं। कुछ नमूने देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विषपूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥
आजु सवारे हौं गई नंदलाल हित ताल।
कुमुद, कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

(४) महापात्र नरहरि बंदीजन—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ में कही जाती है। महापात्र की उपाधि इन्हें अकबर के दरबार से मिली थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले

थे और अकबर के दरबार में इनका बहुत मान था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे हैं। इनके बनाए दो ग्रंथ परंपरा से प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणी-मंगल' और 'छप्पय-नीति'। एक तीसरा ग्रंथ 'कवित्त संग्रह' भी खोज में मिला है। इनका वह प्रसिद्ध छप्पय नीचे दिया जाता है जिस पर, कहते हैं कि, अकबर ने गोवध बंद कराया था—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

(५) नरोत्तमदास—ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। शिवसिंह-सरोज में इनका संवत् १६०२ में वर्त्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार इन्होंने इसी प्रकार का एक और खंड-काव्य 'ध्रुवचरित्र' भी लिखा है। पर वह कहीं देखने में नहीं आया। 'सुदामा चरित्र' का यह सवैया बहुत लोगों के मुँह से सुनाई पड़ता है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु! जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण की दीनवत्सलता और करुणा का एक यह और सवैया देखिए—

निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन की डार सी ॥
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
नीच को वचन कहा स्यार की पुकार सी ।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौ सूधी बात, भावै कहौ फारसी ॥

(८) महाराज बीरबल—इनकी जन्मभूमि कुछ लोग नारनौल बतलाते हैं और इनका नाम महेशदास। प्रयाग के किले के भीतर जो अशोक-स्तंभ है उस पर यह खुदा है—"संवत् १६३२, शाके १४९३ मार्गबदी ५ सोमवार गंगादास-सुत महाराज बीरबल श्रीतीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।" यह लेख महाराज बीरबल के संबंध में ही जान पड़ता है क्योंकि गंगादास और महेशदास नाम मिलते जुलते हैं जैसे कि पिता पुत्र के हुआ करते हैं। बीरबल का जो उल्लेख भूषण ने किया है उससे इनके निवासस्थान का पता चलता है।

द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर-सुत धीर।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा तरनि-तनूजा तीर ॥
बीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप ॥

इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर ही ठहरता है; पर कुल का निश्चय नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियों में थे और बड़े ही वाक्चतुर और प्रत्युत्पन्न मति थे। इनके और अकबर के बीच होनेवाले विनोद और चुटकुले उत्तर भारत के गाँव गाँव में प्रसिद्ध हैं। महाराज बीरबल ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ी उदारता से सम्मान करते थे। कहते हैं, केशवदासजी को इन्होंने एक बार छः लाख रुपए दिए थे और केशवदास की पैरवी से ओरछानरेश पर एक करोड़ का जुरमाना मुआफ़ करा दिया था। इनके मरने पर अकबर ने यह सोरठा कहा था—

ये पद्य भी इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं—

सब देवन को दरबार जुरयो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो॥

गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइए।'

इन प्रमाणों से यह घटना ठीक ठहरती है। गंग कवि बहुत निर्भीक होकर बात कहते थे। ये अपने समय के नर-काव्य करनेवाले कवियों में सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। दासजी ने कहा—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

कहते हैं कि रहीम खानखाना ने इन्हें एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। वह छप्पय यह है—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमलबन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तँग कस्यो॥

सारांश यह कि गंग अपने समय के प्रधान कवि माने जाते थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। पुराने संग्रह-ग्रंथों में इनके बहुत से कवित्त मिलते हैं। सरस हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इनमें प्रचुर मात्रा में था। वीर और शृंगाररस के बहुत ही रमणीय कवित्त इन्होंने कहे हैं। कुछ अन्योक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हास्यरस का पुट भी बड़ी निपुणता से ये अपनी रचना में देते थे। घोर अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु-व्यंग्य-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करनेवाले सब गुण इनमें वर्त्तमान थे, इसमें कोई संदेह नहीं। इनका कविता-

और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और फारसी कविता में अपना उपनाम 'तौसनी' रखते थे। इन्होंने 'शत प्रश्नोत्तरी' नाम की पुस्तक बनाई है तथा नीति और शृंगाररस के बहुत से फुटकल दोहे कहे हैं। इनका कविता-काल संवत् १६२० के आगे माना जा सकता है। इनके शृंगारिक दोहे मार्मिक और मधुर हैं पर उनमें कुछ फारसीपन के छींटे मौजूद हैं। दो चार नमूने देखिए—

इंदु वदन नरगिस नयन, संबुलवारे बार।
उर कुंकुम, कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
बिथुरे सुथुरे चीकने घने घने घुघुवार।
रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥
अचरज मोहिं हिंदू तुरक बादि करत संग्राम।
इक दीपति सों दीपियत काबा काशीधाम॥

(११) बलभद्र मिश्र—ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्म-काल संवत् १६०० के लगभग माना जा सकता है। इनका 'नखशिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन उपमा उत्प्रेक्षा संदेह आदि अलंकारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। ये केशवदासजी के समाकालीन या पहले के उन कवियों में थे जिनके चित्त में रीति के अनुसार काव्य-रचना की प्रवृत्ति हो रही थी। कृपाराम ने जिस प्रकार रसरीति का अवलंबन कर नायिकाओं का वर्णन किया उसी प्रकार बलभद्र नायिका के अंगों को एक स्वतंत्र विषय बनाकर चले थे। इनका रचनाकाल संवत् १६४० के पहले माना जा सकता है। रचना इनकी बहुत प्रौढ और परिमार्जित है, इससे अनुमान होता है कि नखशिख के अतिरिक्त इन्होंने और पुस्तकें भी लिखी होंगी। संवत् १८९१ में गोपाल कवि ने बलभद्र-कृत नखशिख की एक टीका लिखी जिसमें उन्होंने बलभद्रकृत तीन और ग्रंथों का उल्लेख किया है—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक और गोवर्द्धनसतसई टीका। पुस्तकों की खोज में इनका 'दूषण-विचार'

नाम का एक और ग्रंथ मिला है जिसमें काव्य के दोषों का निरूपण है। नखशिख के दो कवित्त उद्धृत किए जाते हैं।

> पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ
> बलभद्र बासर उनींदी लखी बाल मैं।
> सोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधौं,
> देवधुनी भारती मिली है पुन्यकाल मैं॥
> काम-कैवरत कैधौं नासिका-उडुप बैठि,
> खेलत सिकार तरुनी के मुख-ताल मैं।
> लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो
> बाँधे जुग मीन लाल रेसम की डोर मैं॥

> मरकत के सूत, कैधौं पन्नग के पूत अति
> राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
> मखतूल गुनग्राम सोभित सरस स्याम
> काम-मृग-कानन कै कुहू के कुमार हैं॥
> कोप की किरन कै जलज-नाल नील तंतु,
> उपमा अनंत चारु चँवर सिँगार हैं।
> कारे सटकारे भींजे सोंधे सों सुगंध बास,
> ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

---

(१२) जमाल—ये भारतीय काव्य-परंपरा से पूर्ण परिचित कोई सहृदय मुसलमान कवि थे जिनका रचना-काल संवत् १६२७ अनुमान किया गया है। इनके नीति और शृंगार के दोहे राजपूताने की ओर बहुत प्रसिद्ध हैं। भावों की व्यंजना बहुत ही मार्मिक पर सीधे-सादे ढंग पर की गई है। इनका कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता पर कुछ संग्रहीत दोहे मिलते हैं। सहृदयता के अतिरिक्त इनमें शब्दक्रीड़ा की निपुणता भी थी, इससे इन्होंने कुछ पहेलियाँ भी अपने दोहों में रखी हैं। कुछ नमूने दिए जाते हैं—

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग नदी तीर द्रुम-डाल।
रेत भीत, भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल॥
रंग ज चोल मजीठ का, सत वचन प्रतिपाल।
पाहण रेख र करम गत, ए किमि मिटै जमाल॥

जमला ऐसी प्रीत कर जैसी केस कराय।
कै काला, कै ऊजला, जब तब सिर स्यूँ जाय॥
मनसा तो गाहक भए, नैंना भए दलाल।
धनी बसत बेचै नहीं किस विध बनै जमाल॥

बालपणे धौला भया, तरुणपणे भया लाल।
वृद्धपणे काला भया, कारण कौण जमाल॥
कामिण जावक रँग रच्यो, दमकत मुकता कोर।
इम हंसा मोती तजे, इम चुग लिए चकोर॥

(१३) केशवदास—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ के आसपास हुई। ओरछानरेश महाराजा रामसिंह के भाई इंद्रजीतसिंह की सभा में ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति में रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव-काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यांगों के निरूपण की ओर कुछ कवियों का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रंथों के उपरांत ही लक्षण ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-चर्चा का प्रचार भाषा में पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनके लिये स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले ही १५९८ में कृपाराम थोड़ा रस-निरूपण कर चुके थे। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार सागर' नामक एक ग्रंथ शृंगाररस-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' और भूप-भूषण नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे थे पर अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया।

वे काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता, मित्त।

अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होंने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस रीति आदि सब कुछ अलंकार के ही अंतर्गत लेते थे साहित्य-शास्त्र को व्यवस्थित और उन्नत रूप में लानेवाले मम्मट, आनंदवर्धनाचार्य और विश्वनाथ का नहीं। अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसके अंतर्गत वर्णन की प्रणाली ही नहीं, वर्ण्य विषय भी ले लिए हैं। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इन्होंने व्यापक अर्थ में किया है। वास्तविक अलंकार इनके विशेष अलंकार ही हैं अलंकारों के लक्षण इन्होंने दंडी के 'काव्यादर्श' से तथा और बहुत सी बातें अमर-रचित 'काव्य-कल्पलता वृत्ति' और केशव मिश्र कृत 'अलंकार शेखर' से ली हैं।

पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिंदी में लक्षण-ग्रंथों की जो परंपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस की प्रधानता माननेवाले काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारों के निरूपण में इसने अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानंद का अनुसरण किया। इसी

से केशव के अलंकार-लक्षण हिंदी में प्रचलित अलंकार-लक्षणों से नहीं मिलते। केशव ने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिकप्रिया' लिखी।

इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संस्कृत-ग्रंथों से ली हुई मिलती है। नामों में अवश्य कहीं कहीं थोड़ा हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। 'उपमा' के जो २२ भेद केशव ने रखे हैं उनमें से १५ तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे दो भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमें विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार 'आक्षेप' के जो ६ भेद केशव ने रखे हैं उनमें ४ तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं। पाँचवाँ 'मरणाक्षेप' दंडी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। कविप्रिया का 'प्रेमालंकार' दंडी के (विश्वनाथ के नहीं) 'प्रेयस' का ही नामांतर है। 'उत्तर' अलंकार के चारों भेद वास्तव में पहेलियाँ हैं। कुछ भेदों को दंडी से लेकर भी केशव ने उनका और का और ही अर्थ समझा है।

केशव के रचे सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चंद्रिका।

केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और

अर्थ अस्पष्ट हो गई है और वाक्यार्थ भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं। सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। 'रामचंद्रिका' में 'प्रसन्न-राघव' 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादम्बरी' और 'नैषध' की बहुत सी उक्तियों या अनुवाद करके रख दिया गया है। कहीं कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है जैसे—प्रसन्नराघव के "मिलत्परदीडिताग्भूमिभागम्" का अनुवाद "भौ-पद-पंकज ऊपर" करके केशव ने उक्ति को एकदम बिगाड़ डाला है। हाँ जिन उक्तियों में जटिलता नहीं है—समास-शैली का आश्रय नहीं लिया गया है—उनके अनुवाद में कहीं कहीं बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है जैसे, भरत के प्रश्न और कैकेयी के उत्तर में—

मातु, कहाँ नृप तात? गए सुरलोकहि; क्यों? सुत-शोक लए।

जो कि हनुमन्नाटक के एक श्लोक का अनुवाद है।

केशव ने दो प्रबंध-काव्य लिखे—एक 'वीरसिंह देव चरित' दूसरा 'रामचंद्रिका'। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा है दान लोभ आदि के संवाद भरे हैं। 'रामचंद्रिका' अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक-रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध-रचना के नहीं। प्रबन्ध-पटुता उनमें कुछ भी न थी। प्रबंध-काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य हैं—१ संबंध-निर्वाह २ कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और ३ दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

संबंध-निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी 'रामचंद्रिका' अलग अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का बराबर प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलनेवाले पात्रों के

नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं। दूसरी बात भी केशव में बहुत कम पाई जाती है। रामायण की कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती। उन्हें एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिये राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनिशाप-हत, किधौं ब्रह्मदोष रत, किधौं कोऊ ठग हौ।" ऐसा अलौकिक सौंदर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिए कठिन था।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local colour) केशव की रचनाओं में ढूँढना तो व्यर्थ ही है। पहली बात तो यह कि केशव के लिये प्राकृतिक दृश्यों में कोई आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओं का निरीक्षण करने क्यों जाते? दूसरी बात यह कि केशव के बहुत पहले से ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्य-वर्णनों में देशगत विशेषताओं का जो रंग पाया जाता है वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गए। चारों ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होंने यह कहकर कि—

> "देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,
> ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री॥"

साफ दे दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन की

अच्छी तरह प्रकट की जा सकती है। पंचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलों में शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के एक भद्दे खेलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। केवल शब्द-साम्य के सहारे जो उपमान लाए गए हैं वे किसी रमणीय दृश्य से उत्पन्न सौंदर्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल हैं—जैसे प्रलयकाल, पांडव सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य वर्णन में जो उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई हैं वे भी सौंदर्य की भावना में वृद्धि करने के स्थान पर कुरूपता मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौंरे पर यह उक्ति—

केसव केसवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपर सोहै।

पर कहीं कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते हैं, जैसे, जनकपुर के सूर्योदय-वर्णन में जिसमें "कापालिक-काल" को छोड़कर और सब उपमान रमणीय हैं।

सारांश यह कि प्रबंधकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राजदरबार के ऐश्वर्य तथा शृंगार और वीर रस) फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे। इसी से वस्तु के वर्णन वों ही बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गए हैं। वे वर्णन वर्णन के लिये करते थे न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। कहीं कहीं तो उन्होंने अत्यंत अनुचित की भी परवा नहीं की है, जैसे—भरत की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन। अनेक प्रकार के रूखे सूखे उपदेश भी बीच बीच में रखना वे नहीं भूलते थे। राम महिमा सोम-निरा के लिये तो वे प्रायः अपार निरूपण किया करते थे। उपदेशों का समावेश तो एक जगह तो पात्र का बिना विचार किए अत्यंत अनुचित और भद्दे रूप में किया गया है जैसे—वन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत्य का उपदेश।

रामचंद्रिका के लंबे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में ही विशेषत लगता है।

केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिये जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु वर्णन के लिये। पददोष, वाक्यदोष आदि तो बिना प्रयास जगह जगह मिल सकते हैं। कहीं कहीं उपमान भी बहुत हीन और बेमेल हैं, जैसे, राम की वियोग-दशा के वर्णन में यह वाक्य—

"वासर की संपति उलूक ज्यो न चितवत।"

रामचंद्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है (जैसे, लक्ष्मण, राम, परशुराम संवाद तथा लवकुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँव-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है। 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' दोनों का रचनाकाल कवि ने १६५८ दिया है, केवल मास में अंतर है।

रसिकप्रिया (सं० १६४८) की रचना प्रौढ है। उदाहरणों में चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है और पद-विन्यास भी अच्छे हैं। इन उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है। 'विज्ञानगीता' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय नाटक' के ढंग की पुस्तक है। 'रतन बावनी' में इंद्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों में अच्छा वर्णन है। यह वीररस का अच्छा काव्य है।

केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने

(रामचंद्रिका से)

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राननाथ मय ।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट ।
किधौं शक्र को छत्र मढ़यो मानिक मयूख पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को ।

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है ।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदच्छिणा को बल है ॥
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधौं सूरज अमल है ।
सब विधि समरथ राजै राजा दसरथ,
भगीरथ पथ-गामी गंगा कैसो जल है ॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय ।
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन हीं, जो कुटिलगति सरितन ही में ।
श्रीफल की अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ॥

कुंतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है ।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्यदेश केशरी सु जग गति भाई है ॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है ।
रामचंद्र जू की चमू, राजश्री विभीषन की,
रावन की मीचु दर कूच चलि आई है ॥

और फ़ारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे। ये दानी और परोपकारी ऐसे थे कि अपने समय के कर्ण माने जाते थे। इनकी दानशीलता हृदय की सच्ची प्रेरणा के रूप में थी, कीर्ति की कामना से उसका कोई संपर्क न था। इनकी सभा विद्वानों और कवियों से सदा भरी रहती थी। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। अकबर के समय में ये प्रधान सेना-नायक और मंत्री थे और अनेक बड़े बड़े युद्धों में भेजे गए थे।

ये जहाँगीर के समय तक वर्तमान रहे। लड़ाई में धोखा देने के अपराध में एक बार जहाँगीर के समय में इनकी सारी जागीर ज़ब्त हो गई और ये क़ैद कर लिए गए। क़ैद से छूटने पर इनकी आर्थिक अवस्था कुछ दिनों तक बड़ी हीन रही। पर जिस मनुष्य ने करोड़ों रुपए दान कर दिए, जिसके यहाँ से कोई विमुख न लौटा उसका पीछा याचकों से कैसे छूट सकता था! अपनी दरिद्रता का दुःख वास्तव में इन्हें उसी समय होता था जिस समय इनके पास कोई याचक जा पहुँचता और ये उसकी यथेष्ट सहायता नहीं कर सकते थे। अपनी अवस्था के अनुभव की व्यंजना इन्होंने इस दोहे में की है—

> तबही लौं जीबो भलो देबो होय न धीम।
> जग में रहिबो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥

संपत्ति के समय में जो लोग सदा घेरे रहते हैं विपद आने पर उनमें से अधिकांश किनारा खींचते हैं, इस बात का द्योतक यह दोहा है—

> ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिं।
> यारो यारी छाँड़िए, वय रहीम वे नाहिं॥

कहते हैं कि इसी दीन दशा में इन्हें एक याचक ने आ घेरा। इन्होंने यह दोहा लिखकर उसे रीवाँ-नरेश के पास भेजा—

> चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध-नरेस।
> जापर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

दीनों-भरोसे ने उस याचक को एक लाख रुपए दिए।

गो तुलसीदासजी से भी इनका बड़ा स्नेह था। ऐसी जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिये धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामीजी ने उसे रहीम के पास भेजा और दोहे की एक यह पंक्ति लिखकर दे दी—

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा द्रव्य देकर विदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दे दी—

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम ने बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की थीं और मोगल-साम्राज्य के लिये न जाने कितने प्रदेश जीते थे। इन्हें जागीर में बहुत बड़े बड़े सूबे और गढ़ मिले थे। संसार का इन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमें अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यंजना अपने दोहों में की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिंदी-भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृंद और गिरधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय द्रवीभूत होने के लिये कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के लिये पर्याप्त स्वरूप पा जाता था। 'बरवै नायिका-भेद' में भी जो मनोहर और रस छलकाते हुए

चित्र हैं वे भी सच्चे हैं—कल्पना के झूठे खेल नहीं हैं। उनमें भारतीय प्रेम जीवन की सच्ची झलक है।

भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये ब्रज और अवधी—पच्छिमी और पूरबी—दोनों काव्य-भाषाओं में समान कुशल थे। 'बरवै नायिका-भेद' बड़ी सुंदर अवधी भाषा में है। इनकी उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुईं कि बिहारी आदि परवर्ती कवि भी बहुतों का अपहरण करने का लोभ न रोक सके। यद्यपि रहीम सर्वसाधारण में अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध हैं पर इन्होंने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद—सब में थोड़ी-बहुत रचना की है।

रहीम का देहावसान संवत् १६८३ में हुआ। अब तक इनके निम्नलिखित ग्रंथ ही सुने जाते थे—रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी। पर भरतपुर के श्रीयुत पंडित मयाशंकरजी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओं का पता लगाया है—जैसे नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये—और रहीम का एक पूरा संग्रह 'रहीम रत्नावली' के नाम से निकाला है।

कहा जा चुका है कि ये कई भाषाओं और विद्याओं में पारंगत थे। इन्होंने फ़ारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाक़यात बाबरी' का तुर्की से फ़ारसी में अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है, जैसे—'रहीम काव्य' हिंदी-संस्कृत की खिचड़ी है और 'खेट कौतुकम्' नामक ज्योतिष का ग्रंथ संस्कृत और फ़ारसी की खिचड़ी है। कुछ संस्कृत श्लोकों की रचना भी ये कर गए हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

(सतसई या दोहावली से)

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित-हानि को, जौ न होय हित हानि ॥

बैर रहीम बनि आबु के द्वार पर बकिआन ।
संपति के सब जात हैं बिपति सबै लै जात ॥
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।
बारे उजियारो करै, बढ़े अँधेरो होय ॥
सर सूखे पंछी उड़ैं औरै सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं ॥
माँगत मुकरिन को गयो केहि न त्यागियो साथ ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ ॥
रहिमन वे नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनतें पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत "नाहिं" ॥
रहिमन रहिला की भली, जो परसै चित लाय ।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय ॥

(बरवै नायिका-भेद से)

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप ।
घरी एक घरि अलिया ! रहु चुपचाप ॥
बाहर लैके दियवा बारन जाइ ।
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ ॥
पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन ।
बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन ॥
लै कै सुघर खुरुपिया पिय के साथ ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु ।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु ॥

(मदनाष्टक से)

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था ।
चपल-चखन वाला चाँदनी में खड़ा था ॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला ।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥

(नगर शोभा से)

उत्तम जाति है बाम्हनी, देखत चित्त लुभाय ।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय ॥
रूपरंग रतिराज में, छतरानी इतरान ।
मानौ रची बिरंचि पचि, कुसुम-कनक में सान ॥
बनियाइनि बनि आइकै, बैठि रूप की हाट ।
पेम पेक तन हेरि कै, गरुवै टारति बाट ॥
गरब तराजू करति चख, भौह मोरि मुसकाति ।
डाँडी मारति बिरह की, चित चिंता घटि जाति ॥

(फुटकल कवित्त आदि से)

बड़न सो जान पहचान कै रहीम काहा,
जो पै करतार ही न सुख देनहार है ।
सीतहर सूरज सो नेह कियो याही हेत,
ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है ॥
छीरनिधि माहिँ धँस्यो, संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै ।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है, पै
कलानिधि-यार तऊ चाखत अँगार है ॥

जाति हुती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो ।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नँदलाल को रीझिबो जानो ॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो ।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो ॥

कमलदल नैनन की उनमानि ।
बिसरति नाहिं, सखी ! मो मन तें मंद मंद मुसकानि ।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधापगी बतरानि ॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि ।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि ॥

मधुरिम औ धुमन मन तें भावन भावन जानि।
कह रहीम चित तें न टरति है सकल स्याम की बानि॥

(१६) कादिर—कादिरबख्श पिहानी जिला हरदोई के रहनेवाले और सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३५ में माना जाता है अतः इनका कविता-काल सं० १६६० के आसपास समझा जा सकता है। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती पर फुटकल कवित्त पाए जाते हैं। कविता ये चलती भाषा में अच्छी करते थे। इनका यह कवित्त लोगों के मुँह से बहुत सुनने में आता है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिबे की नाहिं
जगत की रीति देखि चुप मन मानो है।
खोलि देखौ हियो सब ओरन सों भाँति भाँति,
गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है॥

(१७) मुबारक—सैयद मुबारक अली बिलग्रामी का जन्म सं० १६४० में हुआ था अतः इनका कविता-काल सं० १६७० के पीछे मानना चाहिए।

ये संस्कृत फारसी और अरबी के अच्छे पंडित और हिंदी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है ये केवल शृंगार की ही कविता करते थे। इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक एक अंग पर सौ सौ दोहे बनाए थे। इनका प्राप्त ग्रंथ "अलक-शतक" और "तिल-शतक" उन्हीं के अंतर्गत है। इन दोहों के अतिरिक्त इनके बहुत से कवित्त सवैये संग्रह-ग्रंथों में पाए जाते और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा बहुत बढ़ी चढ़ी होती थी और वर्णन के उत्कर्ष के लिए कभी कभी ये बहुत दूर तक बढ़ जाते थे। कुछ नमूने देखिए—

(अलक शतक और तिल शतक से)

परी मुबारक तिय-बदन अलक ओप अति होय।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोय॥
चिबुक-कूप में मन परयो छबिजल तृषा बिचारि।
कढ़त मुबारक ताहि तिय अलक-डोरि सी डारि॥
चिबुक-कूप, रसरी अलक, तिल सु चरस, दृग बैल।
बारी बैस सिंगार की, सींचत मनमथ-छैल॥

———

(फुटकल से)

कनक बरन बाल, नगन-लसत भाल,
मोतिन के माल उर सोहैं भली भाँति है।
चंदन चढ़ाय चारु चंदमुखी मोहनी सी,
प्रात ही अन्हाय पग धारे मुसुकाति है॥
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारकजू,
ढाँकि नखसिख ते निपट सकुचाति है।
चंद्रमै लपेटि कै, समेटि कै नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है॥

(१८) बनारसीदास—ये जौनपुर के रहनेवाले एक जैन जौहरी थे जो आमेर में भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खड्गसेन था। ये संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत् १६९८ तक का अपना जीवनवृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रंथ में दिया है। पुराने हिंदी-साहित्य में यही एक आत्मचरित मिलता है, इससे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि युवावस्था में इनका आचरण अच्छा न था और इन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे ये सँभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होंने वे सब कविताएँ गोमती नदी में फेंक दीं और ज्ञानोपदेशपूर्ण कविताएँ करने लगे। कुछ उपदेश इनके ब्रजभाषा गद्य में भी हैं। इन्होंने जैनधर्म संबंधी अनेक पुस्तकों के

सारांश हिंदी में कहे हैं। अब तक इनकी बनाई इतनी पुस्तकों का पता चला है—

बनारसी-विलास (फुटकल कवितों का संग्रह), नाटक-समयसार (कुंदकुंदाचार्य-कृत ग्रंथ का सार), नाममाला (कोश), अर्द्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय-पंचासिका, मारगन विद्या।

इनकी रचनाशैली पुष्ट है और इनकी कविता दादूपंथी सुंदरदास की कविता से मिलती जुलती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

भोंदू ! ते हिरदय की आँखें।
जे करषैं अपनी सुख-संपति भ्रम की संपति नाखें॥
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान बिचारैं।
जिन आँखिन सों लखि स्वरूप मुनि ध्यान धारणा धारैं॥

काया सों बिचार प्रीति, माया ही में हार जीति
लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्योंही पाँय गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों भरम को न ठौर पावै
धावै चहुँ ओर ज्यों बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

(११) सेनापति—ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्मकाल संवत् १६४६ के आसपास माना जाता है। ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतु वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतुवर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पदविन्यास भी इनका ललित है। कहीं कहीं विरामों पर अनुप्रास का निर्वाह और

यमक का चमत्कार भी अच्छा है। सारांश यह कि अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे। अपना परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है॥
महा जानमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥

इनकी गर्वोक्तियाँ खटकती नहीं, उचित जान पड़ती हैं। अपने जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त हो चले थे। जान पड़ता है कि मुसलमानी दरबारों में भी इनका अच्छा मान रहा, क्योंकि अपनी विरक्ति की झोंक में इन्होंने कहा है—

केतो करौ कोइ, पैए करम लिखोइ, तातें
दूसरी न होइ, उर सोइ ठहराइए।
आधी तें सरस बीति गई है बरस, अब
दुर्जन-दरस बीच रस न बढ़ाइए॥
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।
चारि बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए॥

शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि पीछे इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। इनके भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्तरत्नाकर' में मिलते हैं। जैसे—

महा मोह कंदनि में जगत जकंदनि में,
दिन दुख-दंदनि में जात है बिहाय कै।

सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को
सेनापति याही तें कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोकलाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में बृंदावन कुंजनि में
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै॥

यद्यपि इस कवित्त में वृंदावन का नाम आया है पर इनके उपास्य राम ही जान पड़ते हैं, क्योंकि स्थान स्थान पर इन्होंने 'सियापति', 'सीतापति', 'राम' आदि नामों का ही स्मरण किया है। कवित्त रत्नाकर इनका सबसे पिछला ग्रंथ जान पड़ता है क्योंकि उसकी रचना संवत् १७०६ में हुई है, यथा—

संवत् सत्रह सै छ में सेइ सियापति पाँय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय॥

इनका एक ग्रंथ काव्य-कल्पद्रुम भी प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा व्यापक उदाहरण शायद ही और कहीं मिले—

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब दैन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जनमन भावै निराधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है।
सेनापति बचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हे इकसार है॥

भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली

पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इनके ऋतुवर्णन के अनेक कवित्त बहुत से लोगों को कंठ हैं। रामचरित-संबंधी कवित्त भी बहुत ही ओजपूर्ण हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

बानि सो सहित सुबरन मुँह रहै जहाँ,
धरत बहुत भाँति अरथ-समाज को।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को॥
सुनौ महाजन! चोरी होति चार चरन की,
तातैं सेनापति कहै तजि उर लाज को।
लीजियो बचाय ज्यों चुरावै नाहिं कोउ, सौंपी
बित्त की सी थाती मैं कवित्तन के ब्याज को॥

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पथी पछी बिरमत हैं॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
धमका विषम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोय कै॥
घन सो गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै॥

---

(२०) पुहकर कवि—ये परतापपुर (जिला मैनपुरी) के रहनेवाले थे पर पीछे गुजरात में सोमनाथजी के पास भूमि गाँव में रहते थे। ये जाति के कायस्थ थे और जहाँगीर के समय में वर्तमान थे। कहते हैं कि जहाँगीर ने किसी बात पर इन्हें आगरे में क़ैद कर लिया था। वहीं कारागार में इन्होंने 'रसरतन' नामक ग्रथ सवत् १६७३ में लिखा जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। इस ग्रंथ में रभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा कई छदों में, जिनमें मुख्य दोहा और चौपाई हैं, प्रबंध-काव्य की साहित्यिक पद्धति पर लिखी गई है। कल्पित कथा लेकर प्रबध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदी-कवियों में बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफ़ी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, पर उनकी परिपाटी बिल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से 'रसरतन' को हिंदी साहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए।

इसमें सयोग और वियोग की विविध दशाओं का साहित्य की रीति पर वर्णन है। वर्णन उसी ढँग के हैं जिस ढँग के शृंगार के मुक्तक-कवियों ने किए हैं। पूर्वराग, सखी, मडन, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि शृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ है। इस कवि के और ग्रथ नहीं मिले हैं पर प्राप्त ग्रंथ को देखने से ये एक अच्छे कवि जान पडते हैं। इनकी रचना की शैली दिखाने के लिये ये उद्धृत पद्य पर्य्याप्त होंगे—

चले मैमता हस्ति झूमत मत्ता। मनौ बद्दला स्याम साथै चलंता॥
मनी बागरी रूप राजत दता। मनौ बग्ग आषाढ़ पाँतैं उड़ता॥
लसैं पीत लालैं, सुढालैं ढलक्कैं। मनों चंचला चौंधि छाया छलक्कैं॥

चद की उजारी प्यारी नैनन तिहारे, परे
चद की कला में दुति दूनी दरसाति है।
ललित लतानि में लता सी गहि सुकुमारि
मालती सी फूलै जब मृदु मुसकाति है॥

गुहकर की चित देखिए बिराजै चित
परस मिलिय चाह चित मिलि जाति है।
मानै मन जाति यों रही मन ही मैं जाति
नैननि मिलोके बाल नैननि समाति है॥

(२१) सुंदर—ये ग्वालियर के ब्राह्मण थे और शाहजहाँ के दरबार में कविता सुनाया करते थे। इन्हें बादशाह ने पहले कविराय की और फिर महा-कविराय की पदवी दी थी। इन्होंने संवत् १६८८ में 'सुंदर-शृंगार' नामक नायिकाभेद का एक ग्रंथ लिखा। कवि ने रचना की तिथि इस प्रकार दी है।

संवत सोरह सै बरस बीते अठतर सीति।
कातिक सुदि सतमी गुरौ रचे ग्रंथ करि प्रीति॥

इसके अतिरिक्त 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा' नाम की इनकी दो पुस्तकें और कही जाती हैं। यमक और अनुप्रास की ओर इनकी कुछ विशेष प्रवृत्ति जान पड़ती है। इनकी रचना शब्द चमत्कार-पूर्ण है। एक उदाहरण दिया जाता है—

काके गए बसन ? पलटि आए बसन सु
मेरो कछु बस न रसन उर लागे हौ।
भौंहैं तिरछौहैं कवि सुंदर सुजान सोहैं
कछू अलसौहैं गौहैं जाके रस पागे हौ॥
परसी मैं पाग हुती परसी मैं पग नहि,
परसी पै पाग लिखि जाके अनुरागे हौ।
कौन बनिता के हौ जू कौन बनिता के हौ सु,
कौन बनिता के बनि तासों संग जागे हौ ?

(२२) लालचंद या लब्धोदय—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (सं० १६८८—१७ ९) की माता जांबवतीजी के प्रधान श्रावक हंसराज के भाई डूँगरसी के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७ में 'पद्मिनी चरित्र' नामक एक प्रबंध-काव्य की रचना की जिसमें राजा रत्नसेन और पद्मिनी की कथा का राजस्थानी मिली भाषा में वर्णन

है। जायसी ने कथा का जो रूप रखा है उससे इसकी कथा में बहुत जगह भेद है—जैसे, जायसी ने हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का वर्णन सुनकर रत्नसेन का मोहित होना लिखा है, पर इसमें भाटों द्वारा। एकबारगी घर से निकल पड़ने का कारण इसमें यह बताया गया है कि पटरानी प्रभावती ने राजा के सामने जो भोजन रखा वह उसे पसंद न आया। इस पर रानी ने चिढ़कर कहा कि यदि मेरा भोजन अच्छा नहीं लगता तो कोई पद्मिनी ब्याह लाओ।

तब तड़की बोली तिसे जी, राखो मन धरि रोस।
नारी आणों काँ न बीजी यो मत झूठा दोस॥
हम्मे कलेवो जीणा नहीं जी, किम्हूँ बतीमे वाद।
पदमिणि का परणो न बीजी, जिमि भोजन होय स्वाद॥

इस पर रत्नसेन यह कहकर उठ खड़ा हुआ—

राणो तो हूँ रतनसी परणूँ पदमनि नारि।

राजा समुद्र-तट पर जा पहुँचा जहाँ से औघड़नाथ सिद्ध ने अपने योगबल से उसे सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। वहाँ राजा की बहिन पद्मिनी के स्वयंवर की मुनादी हो रही थी—

सिंहलदीप नो राजियो रे सिंहल सिंह समान रे।
तसु बहण छै पदमिणि रे, रूपे रंभ समान रे।
जोबन लहरयाँ जायछे रे, ते परणूँ भरतार रे।
परतज्ञा जे पूरवै रे तासु वरै वरमाल रे।

राजा अपना पराक्रम दिखाकर पद्मिनी को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जायसी के वृत्त से और भी कई बातों में भेद है। इस चरित्र की रचना गीत-काव्य के रूप में समझनी चाहिए।

सूफी-रचनाओं के अतिरिक्त

भक्तिकाल के अन्य आख्यान-काव्य

आश्रयदाता राजाओं के चरित-काव्य तथा ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान-काव्य लिखने की वैसी परंपरा हिंदुओं में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी वैसी पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की नहीं थी। ऐसी कहानियाँ मिलती हैं पर बहुत कम। इसका अर्थ यह नहीं कि भक्तों या कवियों की कल्पना की प्रवृत्ति कम थी। पर ऐसी कल्पना किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष या घटना का कुछ—कभी कभी अत्यंत अल्प—सहारा लेकर खड़ी की जाती थी। कहीं कहीं तो केवल कुछ नाम ही ऐतिहासिक या पौराणिक रहते थे, वृत्त सारा कल्पित रहता था, जैसे ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा' (दे० पृ० ८८)।

आत्मकथा का विकास भी नहीं पाया जाता। केवल जैन कवि बनारसीदास का 'अर्धकथानक' मिलता है।

नीचे मुख्य आख्यान-काव्यों का उल्लेख किया जाता है—

ऐतिहासिक-पौराणिक	कल्पित	आत्मकथा
१ रामचरित-मानस (तुलसी)	१ ढोला मारू रा दूहा (प्राचीन)	१ अर्धकथानक (बनारसीदास)
२ हरिचरित (लालच दास)	२ लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (दामोदर)	
३ रुक्मिणी मंगल (नरहरि)	३ सत्यवती कथा (ईश्वरदास)	
४ " " (नंददास)	४ माधवानल कामकंदला (आलम)	

५ सुदामाचरित्र (नरोत्तमदास)	५ रसरतन (पुहकर कवि)
६ रामचंद्रिका (केशवदास)	६ पद्मिनी-चरित्र (लालचंद)
७ वीरसिंहदेव-चरित (केशव)	७ कनकमंजरी (काशीराम)
८ बेलि क्रिसन रुकमणी री (जोधपुर के राठौड़ राजा प्रिथीराज)	

ऊपर दी हुई सूची में 'ढोला मारू रा दूहा' और 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी भाषा में हैं। ढोला मारू की प्रेमकथा राजपुताने में बहुत प्रचलित है। दोहे बहुत पुराने हैं, यह बात उनकी भाषा से पाई जाती है। बहुत दिनों तक मुखाग्र ही रहने के कारण बहुत से दोहे लुप्त हो गए थे, जिससे कथा की शृंखला बीच बीच में खंडित हो गई थी। इसी से संवत् १६१८ के लगभग जैनकवि कुशल-लाभ ने बीच बीच में चौपाइयाँ रचकर जोड़ दीं। दोहों की प्राचीनता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि कबीर की साखियों में ढोला मारू के बहुत से दोहे ज्यों के त्यों मिलते हैं।

"बेलि क्रिसन रुकमणी री" जोधपुर के राठौड़ राजवंशीय स्वदेशाभिमानी कवि पृथ्वीराज की रचना है जिनका महाराणा प्रताप को क्षोभ से भरा पत्र लिखना इतिहास-प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ भी है और मार्मिक भी। इसमें श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है।

पद्मिनी-चरित्र की भाषा भी राजस्थानी मिली है।

उत्तर-मध्यकाल

(रीतिकाल १७००–१९००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

हिंदी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' नामक एक ग्रंथ शृंगार-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने 'कर्णाभरण' 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे। रस-निरूपण और अलंकार-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः ५० वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

केशव के प्रसंग में यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की

एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिंदी-पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंद-वर्द्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था, रस, रीति, अलंकार आदि, सब के लिये 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद कर के, 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं*। (विशेष दे० केशवदास)

पर केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्य्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्त्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिंदी के अलंकार-ग्रंथ अधिकतर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिंदी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार दैव-योग से संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिंदी में हो गई।

हिंदी रीतिग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने

---

* देखो पृ० २३२ ३३।

का विषय तो दो ही चार कवियों ने नाममात्र के लिये लिया है जिससे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहीं कहीं भ्रांत धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणत. दो भेद किए जाते हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया। सारांश यह कि इन रीति-ग्रंथों पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्य-ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्य-शास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई नई बातों की उद्भावना होती रही।

केशवदास के वर्णन में यह दिखाया जा चुका है कि उन्होंने सारी सामग्री कहाँ कहाँ से ली। आगे होनेवाले लक्षणग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं जो कहीं कहीं अपर्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार-क्षेत्र मे कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस-क्षेत्र में। काव्यांगों का विस्तृत समावेश दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में किया है। अलंकारों को जिस प्रकार उन्होंने बहुत से छोटे छोटे प्रकरणों में बाँट कर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव में उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया है। दास जी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-काव्य में अंत्यानुप्रास या तुक का चलन नहीं था, इससे संस्कृत के साहित्यग्रंथों में उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिंदी काव्य में वह बराबर आरंभ से ही मिलता है। अतः दासजी ने अपनी पुस्तक में उसका विचार करके बड़ा ही आवश्यक कार्य्य किया।

भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है, पर है वास्तव में संस्कृत ग्रंथों के 'भाविक' का ही एक दूसरा या

प्रदर्शित रूप। 'भाविक' का संबंध कालगत दूरी से है; इसका देशगत से। बस इतना ही अंतर है।

दासजी के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़नेवाले भेदों में से चार तो भेदों के भिन्न भिन्न योग हैं। पाँचवाँ 'संभावनातिशयोक्ति', तो संबंधातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियों के बीच 'छल' बढ़ा देना कुछ लोगों को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने वैसे और सब बातें संस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से ली हैं वैसे ही यह 'छल' भी। सच पूछिए तो छल का अंतर्भाव अवहित्था में हो जाता है।

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि हिंदी के लक्षण-ग्रंथों में दिए हुए लक्षणों और उदाहरणों में बहुत जगह गड़बड़ी पाई जाती है। अब इस गड़बड़ी के संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं। या तो यह कहें कि कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिये जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझ कर। मतभेद तो तब कहा जाता जब कहीं कोई सूक्ष्म विचार पद्धति मिलती। अतः दूसरा कारण ही ठहरता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) केशवदास ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक-रूपक। इनमें से प्रथम का लक्षण भी स्पष्ट व्यक्त नहीं करता और उदाहरण भी व्यतिरेकपूर्ण रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक-रूपक दंडी के अनुसार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप कर के फिर दूसरे अप्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण से यह बात प्रकट होती है न उदाहरण से। उदाहरण में दंडी के उदाहरण का ढाँचा भर कुछ झलकता है पर असल बात का पता नहीं है। इससे

स्पष्ट न है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिंदी में दे दिए गए हैं।

(२) भूषण क्या प्राय सब हिंदी कवियों ने 'भ्रम', 'सदेह' और 'स्मरण' अलकारों के लक्षणों में सादृश्य की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भूषण का उदाहरण सबसे गड़बड़ है।

(३) शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि इस लक्षणा का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है।

जब कि काव्यागों का स्वतत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते? सस्कृत साहित्य में जैसे, अलकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिये हिंदी के रीतिक्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरात रीतिकाल में होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले। महाराज जसवतसिंह ने अपने 'भाषा-भूषण' की रचना 'चंद्रालोक' के आधार पर की, पर उसके अलकार की अनिवार्य्यतावाले सिद्धात का समावेश नहीं किया।

इन रीति-ग्रथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य्य यह हुआ कि रसों (विशेषत शृगार रस) और अलकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण-ग्रथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक सख्या न होगी। अलकारों की अपेक्षा

नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तक-रचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी-साहित्य में हुआ कि इसके एक एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका-भेद के भीतर दिखाया। रसग्रंथ वास्तव में नायिका-भेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिए गए हैं। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नखशिख-वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलंभ-संबंधी 'बारहमासे' भी कुछ कवियों ने लिखे।

रीति-ग्रंथों की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद-विन्यास, अलंकार-विधान आदि बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें तो दिखा सकें पर उनकी आभ्यंतर प्रकृति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।

रीति-काल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत-संस्कृति दोष का

निराकरण होता जो व्रजभाषा-काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्य-दोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है*। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण व्रज और अवधी इन दोनों काव्य-भाषाओं का कवि के इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश-विशेष के प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की व्रजभाषा के संबंध में भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा में यत्र-तत्र पूरबी प्रयोग—जैसे, मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी 'कीन' 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीति-ग्रंथों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल में काव्य की व्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टि-पात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन में वे कहते हैं—

> व्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥
> व्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
> सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

---

* देखो पृ० २८५।

उक्त दोहे में 'मागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्ध-मागधी से निकली मानी जाती है और पूरबी हिंदी के अंतर्गत है। ब्रजभाषा के लिये ब्रज का निवास आवश्यक नहीं है, सुकवियों की वाणी भी प्रमाण है, इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा है—

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामनि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजबास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कबिन की बानी हू सों जानिए॥

मिली-जुली भाषा के प्रमाण में दासजी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा बिबिध प्रकार॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसी लिये कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उसकी समझ को क्या कहा जाय!

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई सौ वर्षों की काव्य-परंपरा के पर्यालोचन के उपरांत। अतः उनका स्वरूप-निरूपण तो बहुत ही ठीक है। उन्होंने काव्यभाषा ब्रजभाषा ही कही है जिसमें और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा-संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारक-चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते

रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिये वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो', 'कीनो', 'कर्‌यो', 'करियो', 'कीन', यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिये आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई विदेशी काव्य की ब्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनता होगी।

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था में ही किस प्रकार मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे इसका उल्लेख हो चुका है। नामदेव और कबीर आदि की तो बात ही क्या, तुलसीदासजी ने भी गनी, गरीब, साहब, इताति, उमर-दराज आदि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते हैं। फिर मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ-साथ इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अत भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने को कैसे रख सकते थे! वे भी दरबार में खड़े होकर "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" पुकारने लगे। 'बखतबलंद' आदि शब्द उनकी जबान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी-काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियों ने अपनाना आरंभ किया। रीति-काल में ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की स्वाभाविक सरलता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट

कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत ही कम स्थान दिया। पर परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास रखनेवाले साधारण कवियों ने कहीं-कहीं बड़े बेढंगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं-कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दों को देखकर शिष्टों को एक प्रकार की विरक्ति सी होती है और उनकी कविता गँवारों की रचना सी लगती है। शब्दों के साथ साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार-सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रसनिधि-कृत 'रतनहजारा' में यह बात अधिकतर मात्रा में पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे हैं पर उन्होंने उन भावों को अपने देशी साँचे में ढाल लिया है जिससे वे खटकने क्या सहसा लक्ष्य भी नहीं होते। उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियों में दूर की सूझ और नाज़ुकख़याली बहुत कुछ फारसी की शैली की है पर बिहारी रसभंग करनेवाले बीभत्स रूप कहीं नहीं लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैया ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनों रसों के लिये समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव में पढ़ने के ढंग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमें दोनों के अनुकूल नादसौंदर्य पाया जाता है। सवैया शृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के बहुत उपयुक्त होता है यद्यपि वीररस की कविता में भी इसका व्यवहार कवियों ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

प्रकरण २

रीति-ग्रंथकार कवि

हिंदी-साहित्य की गति का ऊपर जो संक्षिप्त उल्लेख हुआ उससे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति का पता चल सकता है। अब उस काल के मुख्य मुख्य कवियों का विवरण दिया जाता है।

(१) चिंतामणि त्रिपाठी—ये तिकवाँपुर (जि० कानपुर) के रहनेवाले और चार भाई थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों कवि थे, जिनमें प्रथम तीन तो हिंदी-साहित्य में बहुत यशस्वी हुए। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ दिन से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न शिवाजी के दरबार में थे। पर इतनी प्रसिद्ध बात का जब तक पर्याप्त विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक वह अस्वीकार नहीं की जा सकती। चिंतामणिजी का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविता-काल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका 'कविकुलकल्पतरु' नामक ग्रंथ सं० १७०७ का लिखा है। इनके संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर छंदविचार नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रामायण' ये पाँच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदों में बहुत अपूर्व है। बाबू रुद्रसाहि सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदीं अहमद ने इनको

बहुत नाम दिए हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं-कहीं अपना नाम मनिमाल भी कहा है।'

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चिंतामणि ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय-वर्णन की प्रणाली भी मनोहर है। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे। रचना के कुछ नमूने लीजिए—

> येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह महोदधि के जल-फेरे।
> जे इनको पल ध्यान धरैं मन ते न परैं कबहूँ जम घेरे॥
> राजै रमा-रमनी-उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
> हैं बलभार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे॥

> इक आजु मैं कुंदन बेलि लखी मनिमंदिर की रुचिवृंद भरै।
> कुरबिंद के पल्लव इंदु तहाँ अरबिंदन तें मकरंद झरै॥
> उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै फल सुंदर द्वै पर आनि परै।
> लखि यों दुति कंद अनंद कला नँदनंद सिलाद्रव रूप ढरै॥

> आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
> केहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
> नाह छुई छल सों छतियाँ हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
> जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥

(२) बेनी—ये असनी के बंदीजन थे और संवत् १७ के आसपास विद्यमान थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता पर फुटकल कवित्त बहुत से सुने जाते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षट्ऋतु पर पुस्तकें लिखी होंगी। कविता इनकी साधारणतः अच्छी होती थी। भाषा चलती होने पर भी अनुप्रास युक्त होती थी। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

छहरै सिर पैं छवि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं॥
रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा विहरैं॥

कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा मन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति-मंडल छ्वै, लहरैं मन मैन भभूकन री॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यो ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बावरि! हूकन री॥

(३) महाराज जसवंतसिंह—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज थे जो अपने समय के सब से प्रतापी हिंदू नरेश थे और जिनका भय औरंगजेब को बराबर बना रहता था। इनका जन्म संवत् १६८३ में हुआ। ये शाहजहाँ के समय में ही कई लड़ाइयों पर जा चुके थे। ये महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरांत संवत् १६९५ में गद्दी पर बैठे। इनके बड़े भाई अमरसिंह अपने उद्धत स्वभाव के कारण पिता द्वारा अधिकारच्युत कर दिए गए थे। महाराज जसवंतसिंह बड़े अच्छे साहित्यमर्मज्ञ और तत्त्वज्ञान-संपन्न पुरुष थे। उनके समय में राज्य भर में विद्या की बड़ी चर्चा रही और अच्छे अच्छे कवियों और विद्वानों का बराबर समागम होता रहा। महाराज ने स्वयं तो अनेक ग्रंथ लिखे ही, अनेक विद्वानों और कवियों से न जाने कितने ग्रंथ लिखाए। औरंगजेब ने इन्हें कुछ दिनों के लिये गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गए थे। कहते हैं कि चढाई में शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई वह बहुत कुछ इन्हीं के इशारे से। अंत में ये अफ़ग़ानों को सर करने के लिये काबुल भेजे गए जहाँ संवत् १७३५ में इनका परलोकवास हुआ।

ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्य्यों में माने जाते हैं और इनका 'भाषा-भूषण' ग्रंथ अलंकारों पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रंथ रहा

है। इस ग्रंथ को इन्होंने वास्तव में आचार्य्य के रूप में लिखा है, कवि के रूप में नहीं। प्राक्कथन में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रंथ लिखे थे न कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंतसिंहजी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य्य की हैसियत से ही हिंदी-साहित्य क्षेत्र में आए, कवि की हैसियत से नहीं। उन्होंने अपना 'भाषा-भूषण' बिलकुल 'चंद्रालोक' की छाया पर बनाया और उसी की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार चंद्रालोक में प्रायः एक ही श्लोक के भीतर लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश है उसी प्रकार 'भाषा-भूषण' में भी प्रायः एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए हैं। इससे विद्यार्थियों को अलंकार कंठ करने में बड़ा सुबीता हो गया और 'भाषा भूषण' हिंदी काव्य-रीति के अभ्यासियों के बीच वैसा ही सर्वप्रिय हुआ जैसा कि संस्कृत के विद्यार्थियों के बीच चंद्रालोक। भाषा-भूषण बहुत छोटा सा ग्रंथ है।

भाषा-भूषण के अतिरिक्त जो और ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं वे तत्वज्ञान संबंधी हैं। जैसे—अपरोक्ष-सिद्धांत, अनुभव-प्रकाश, आनंद विलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक। ये सब ग्रंथ भी पद्य में ही हैं, जिनसे पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है। पर साहित्य से जहाँ तक संबंध है ये आचार्य या शिक्षक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। अलंकार निरूपण की इनकी पद्धति का परिचय कराने के लिये 'भाषा-भूषण' के दो दोहे नीचे दिए जाते हैं—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप॥

पर्यस्तापह्नुति—पर्यस्त सु गुण एक को और विषय आरोप।
होत सुधाधर नाहिं यह वदन सुधाधर ओप॥

ये दोहे चंद्रालोक के इन श्लोकों की स्पष्ट छाया हैं—

अकर्त्तिकरद्भुता त्वदौदार्य्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेंद्र याचकाः कल्पशाखिनः ॥
पर्य्यन्तापद्‌भुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते ।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥

भाषा भूषण पर पीछे तीन टीकाएँ रची गईं—'अलंकार-रत्नाकर' नाम की टीका, जिसे वंशीधर ने संवत् १७९२ में बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषणचंद्रिका'।

(४) बिहारीलाल—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। अनुमानतः ये संवत् १७२० तक वर्तमान रहे। ये जयपुर के मिर्ज़ा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिये महलों के बाहर निकलते ही न थे। इस पर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

कहते हैं कि इस पर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बना-बनाकर सुनाने लगे और उन्हें प्रति दोहे पर एक एक अशरफ़ी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर "बिहारी सतसई" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगाररस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिंदी-साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं में ४-५ टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजीलाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलिया इन दोहों पर बहुत अच्छी है, पर अधूरी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलियाँ रचकर पूर्ति करनी चाही थी। पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाए हैं। पं० परमानंद ने 'शृंगारसप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सब से उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और ब्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने निकाला। जितने श्रम और जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिंदी का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई

संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है—

> सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
> देखत में छोटे लगैं वेधैं सकल सरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हाव-भरी सजीव मूर्तियाँ देखिए—

> बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
> सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥

नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥
ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आय।
भई लखाइ न सखिन हू झूठे ही जमुहाय॥

भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में। कहीं कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है जैसे—इन दोहों में—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥
छाले परिबे के डरनि सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झँवा झँवावति पाइ॥
इत आवति, चलि जाति उत चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासनु साथ॥
सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौ ग्रीषम दिनन परयो परोसिनि पाप॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

ढीठि परोसिनि ईठ ह्वै कहे जु गहे सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥
नए बिरह बढ़ती बिथा खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर में सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने ज़ोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं—

> दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥
> तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
> अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

दो एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

> करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
> लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन॥

शृंगार की संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस स्मरण में कैसी गंभीर तन्मयता है—

> सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
> मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें बहुत सी नीति-संबंधिनी हैं। सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे यहाँ दिए जाते हैं—

> यदपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह।
> तऊ प्रकास करै तितो भरियै जितो सनेह॥
> कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
> वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय॥
> तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
> तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे "आर्यासप्तशती" और "गाथासप्तशती" की छाया लेकर बने हैं, इस बात को पंडित पद्मसिंह शर्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिये 'समर', 'क्रूर' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि क्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रौंस' बड़ाई के रूप में आगरे के आस पास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार' का अर्थ भी जल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन

में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नखशिख', 'नायिकाभेद', 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसी लिये हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख, उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजनेवाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।

(५) मंडन—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्त्तमान थे। इनके

फुटकल कवित्त-सवैये बहुत सुने जाते हैं पर कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज में इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—रस-रत्नावली, रसविलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को ब्याह, नैन-पचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर हैं, यह उनके नामों से ही प्रकट होता है। संग्रह-ग्रंथों में इनके कवित्त-सवैये बराबर मिलते हैं। "जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती" यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होंने रचे थे। जो पद्य इनके मिलते हैं उनसे ये बड़े सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमें और कवियों का सा शब्दाडंबर नहीं दिखाई पड़ता। यह सवैया देखिए—

अलि हौं तो गई जमुना जल को, सो कहा कहौं बीर! बिपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

(५) मतिराम—ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं और चिंतामणि तथा भूषण के भाई परंपरा से प्रसिद्ध हैं। ये तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे। ये बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अपना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक "मतिराम-सतसई" भी बनाई जो हिंदी-पुस्तकों की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना में ही प्रयुक्त हैं। रीतिग्रंथ-वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है, पर कहीं कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करनेवालों में बहुत ही कम मिलती है।

भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरह-ताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक़ इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसंद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार खयाल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतीय जीवन से छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनु-भूति के अंग हैं।

'रसराज' और 'ललितललाम', मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं।

उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का आस्वादन होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललित-ललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौंदर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।

मतिराम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

—

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै?
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै?
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

—

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो' भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही, सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

—

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥

सूबन को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू
सुभट समूह निसि वाकी उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के न हिम्मति हिए में उलहति है॥
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरब गनीम-बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥

(७) भूषण—वीररस के ये प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६७० है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। इनका असल नाम क्या था, इसका पता नहीं। ये कई राजाओं के यहाँ रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके वीर-काव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान हुआ। कहते हैं कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिस पर इन्होंने कहा था "सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को"। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्हें एक एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास संवत १७७२ में माना जाता है।

रीति काल के भीतर शृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में उनके प्रताप आदि के प्रसंग में उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर

वह शुष्क प्रथा-पालन के रूप में ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। ऐसे वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति कभी हो नहीं सकती थी। पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिंदू-धर्म के संरक्षक दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिंदू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। क्या संस्कृत-साहित्य में क्या हिंदी-साहित्य में, सहस्रों कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ रचे जिनका आज पता तक नहीं है। पुरानी वस्तु खोजनेवालों को ही कभी कभी किसी राजा के पुस्तकालय में, कहीं किसी घर के कोने में, उनमें से दो चार इधर उधर मिल जाते हैं। जिस भोज ने दान दे देकर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके चरित काव्य भी कवियों ने लिखे होंगे। पर उन्हें आज कौन जानता है?

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू-जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू-जाति के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि आरंभ में कहा गया है शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पहले वे और राजाओं के पास भी रहे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें अवश्य ही करनी पड़ी होगी। पर वह झूठी थी इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति ही हुई होगी। इनके 'शिवराज भूषण' शिवाबावनी और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं।

इनके अतिरिक्त ३ ग्रंथ और कहे जाते हैं—'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

जो कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हैं उनके संबंध में यहाँ यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीररस के ही कवि थे। इधर इनके दो चार कवित्त शृंगार के भी मिले हैं, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीति काल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' अलंकार के ग्रंथ के रूप में बनाया। पर रीति-ग्रंथ की दृष्टि से अलंकार-निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं। भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य रचना भी कहीं कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कहीं कहीं बिल्कुल गढ़ंत के शब्द रखे गए हैं। पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

इंद्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
　　　　रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
　　　　ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
　　　　भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
　　　　त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

———

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
　　　　बाढ़ी मरजाद [illegible] [illegible] की।

कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो
स्याह मुख नौरँग, सिपाह-मुख पियरे॥

दारा की न दौर यह, रार नाहिं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को।
मठ विस्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥

धर धर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हवस भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है॥

———

जिहि फन फूतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
बिषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो॥
कीन्हो जिहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग-खगराज महाराज सिवराजजू को
अखिल भुजंग मुगलद्दल निगलि गो॥

(८) कुलपति मिश्र—ये आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे थे और महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। कुलपतिजी जयपुर के महाराज जयसिंह (बिहारी के आश्रयदाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रसरहस्य' का रचनाकाल कातिक कृष्ण ११ संवत् १७२७ है। अब तक इनका यही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रकाशित है। पर खोज में इनके निम्नलिखित ग्रंथ और मिले हैं—

द्रोणपर्व (सं० १७३७), युक्ति तरंगिणी (१७४३), नखशिख, संग्रामसार, रसरहस्य (१७२४)।

अतः इनका कविता-काल संवत् १७२४ और संवत् १७४३ के बीच ठहरता है।

रीति-काल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिये यह स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का

प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने अपना 'रस-रहस्य' लिखा। शास्त्रीय निरूपण के लिये पद्य उपयुक्त नहीं होता इसका अनुभव इन्होंने किया इससे कहीं कहीं कुछ गद्य वार्तिक भी रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा वह पूरा न हुआ। इस ग्रंथ का वैसा प्रचार चाहिए था न हो सका। जिस स्पष्टता से 'काव्यप्रकाश' में विषय प्रतिपादित हुए हैं वह स्पष्टता इनके ब्रजभाषा-गद्यपद्य में न आ सकी। कहीं कहीं तो भाषा और वाक्य-रचना दुरूह हो गई है।

यद्यपि इन्होंने शब्दशक्ति और भावादि-निरूपण में उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश के ही दिए हैं पर अलंकार प्रकरण में इन्होंने प्रायः अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ये ब्रजमंडल के निवासी थे अतः इनको ब्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है कहाँ इनको अधिक स्वच्छंदता रही होगी वहाँ इनकी रचना और सरस होगी। इनकी रचना का एक नमूना दिया जाता है—

> ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलिगुंजत यों सुख लीजै।
> नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
> जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
> आनँद यों उमग्योई रहै पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

(६) सुखदेव मिश्र—दौलतपुर (जि॰ रायबरेली) में इनके वंशज अब तक हैं। कुछ दिन हुए उसी ग्राम के निवासी सुप्रसिद्ध पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनका एक अच्छा जीवनवृत्त 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा था। सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कंपिला' था जिसका वर्णन इन्होंने अपने वृत्त-विचार में किया है। इनका कविता-काल संवत् १७२ से १७६ तक माना जा सकता है। इनके सात ग्रंथों का पता अब तक है—

वृत्तविचार (संवत् १७२८) छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश रसार्णव शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (संवत् १७५५), दशरथ राय।

अध्यात्म-प्रकाश में कवि ने ब्रह्मज्ञान-संबंधी बातें कही हैं जिससे यह जनश्रुति पुष्ट होती है कि वे एक निःस्पृह विरक्त साधु के रूप में रहते थे।

काशी से विद्याध्ययन करके लौटने पर ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंड़िया खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिनों तक ये औरंगजेब के मंत्री फाजिलअलीशाह के यहाँ भी रहे। अंत में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सकुटुंब दौलतपुर में जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंद शास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे। "फाजिल-अली-प्रकाश" और "रसार्णव" दोनों में शृंगाररस के उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं। दो नमूने लीजिए—

> नंद निहारी, सासु मायके सिधारी,
> अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न कर है।
> पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
> दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
> संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
> तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
> भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
> जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

———

> सोहै जहाँ मधु नंदकुमार तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है।
> मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है॥
> भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
> जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है॥

(१०) कालिदास त्रिवेदी—ये अंतर्वेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। जान पड़ता है कि

संवत् १७४५ वाली गोलकुंडे की चढ़ाई में ये औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गए थे। इस लड़ाई का औरंगजेब की प्रशंसा से युक्त वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है—

> गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
> बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
> कालिदास कोप्यो वीर औलिया अलमगीर,
> तीर तरवारि गह्यो पुहमी पराई में॥
> बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची,
> लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
> गाड़ि के सुझंडा आड़ कीनी बादसाह, तातें
> डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई में॥

कालिदास का जंबू-नरेश जोगजीतसिंह के यहाँ भी रहना पाया जाता है जिनके लिये संवत् १७४९ में इन्होंने 'वारवधू-विनोद' बनाया। यह नायिका-भेद और नखशिख की पुस्तक है। बत्तीस कवित्तों की इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'जँजीराबंद' भी है। 'राधा माधव-बुध मिलन-विनोद' नाम का एक और ग्रंथ इनका कहा जाता है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनका बड़ा संग्रह ग्रंथ 'कालिदास हजारा' बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। इस संग्रह के संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि इसमें संवत् १४८१ से लेकर संवत् १७७६ तक के २१२ कवियों के १ पद्य संगृहीत हैं। कवियों के काल आदि के निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवींद्र और पौत्र दूलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

ये एक अभ्यस्त और निपुण कवि थे। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत सुने जाते हैं जिनसे इनकी सरस-हृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

> चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
> रूप के निधान, कान्ह ! मो तन निहारि दै

कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै ॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है, नंदलाल प्यारे !
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दै ॥

—

हाथ हँसि दीन्हो भीति अंतर परसि प्यारी,
देखत ही छकी मति कान्हर प्रवीन की।
निकस्यो झरोखे माँझ बिगस्यो कमल सम,
ललित अँगूठी तामे चमक चुनीन की॥
कालिदास तैसी लाल मेहँदी के बुंदन की,
चारु नख चंदन की लाल-अँगुरीन की।
कैसी छवि छाजति है छाप औ छलान की सु-
कंकन चुरीन की, जड़ाऊ पहुँचीन की ॥

(११) राम—शिवसिंहसरोज में इनका जन्म-संवत् १७०३ लिखा है और कहा गया है कि इनके कवित्त कालिदास के हजारा में हैं। इनका नायिकाभेद का एक ग्रंथ शृंगारसौरभ है जिसकी कविता बहुत ही मनोरम है। खोज में एक "हनुमान नाटक' भी इनका पाया गया है। शिवसिंह के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १७३० के लगभग माना जा सकता है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त अखंड धार,
चंचला उठति तामें तरजि तरजि कै।
बरही पपीहा भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठे लरजि लरजि कै ॥
कहै कवि राम लखि चमक खद्योतन की,
पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि कै।
लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै ॥

(१२) नेवाज—ये अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्तमान थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे जिस पर भगवत् कवि ने यह फबती छोड़ी थी—

भली आजु कलि करत हौ छत्रसाल महाराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म-संवत् १७३९ लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि इनके 'शकुंतला नाटक' का निर्माण-काल संवत् १७३७ है। दो और नेवाज हुए हैं जिनमें एक भगवंतराय खीची के यहाँ थे। प्रस्तुत नेवाज का औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ रहना भी पाया जाता है। इन्होंने 'शकुंतला नाटक' का आख्यान दोहा चौपाई सवैया आदि छंदों में लिखा। इनके फुटकल कवित्त बहुत स्थानों पर संगृहीत मिलते हैं जिनसे इनकी काव्य कुशलता और सहृदयता टपकती है। भाषा इनकी बहुत परिमार्जित व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। उसमें भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते हैं। इनके अच्छे शृंगारी कवि होने में संदेह नहीं। संयोग-शृंगार के वर्णन की प्रवृत्ति इनकी विशेष जान पड़ती है जिसमें कहीं कहीं ये अश्लीलता की सीमा के भीतर जा पड़ते हैं। दो सवैये इनके उद्धृत किए जाते हैं—

देखि हमैं सब आपुस में जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं॥
बातें चवाव भरी सुनि कै रिस आवति, पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं॥

आगे तौ कीन्ही लगालगी लोयन कैसे छिपे अजहूँ जो छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज जो तू तरसै, उनहूँ तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यो तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

(१३) देव—ये इटावा के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'भावविलास' का रचनाकाल इन्होंने १७४६ दिया है और उस ग्रंथ-निर्माण के समय अपनी अवस्था सोलह ही वर्ष की कही है। इस हिसाब से इनका जन्म संवत् १७३० निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्तांत नहीं मिलता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि इन्हें कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रहकर इन्होंने सुख से कालयापन किया हो। ये बराबर अनेक रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं जमे नहीं। इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता मानें या इनकी कविता के साथ उस काल की रुचि का असामंजस्य। इन्होंने अपने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को औरंगजेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को सुनाया था जो हिंदी-कविता के प्रेमी थे। इसके पीछे इन्होंने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानीविलास" और कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास' की रचना की। फिर मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह वैस के लिये 'प्रेमचंद्रिका' बनाई। इसके उपरांत ये बराबर अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। इस यात्रा के अनुभव का इन्होंने अपने 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ में कुछ उपयोग किया। इस ग्रंथ में भिन्न भिन्न जातियों और भिन्न भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन में उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हों, यह बात नहीं है। इतने पर्यटन के उपरांत जान पड़ता है कि इन्हें एक अच्छे आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले जिनके नाम पर संवत् १७८३ में इन्होंने 'रसविलास' नामक ग्रंथ बनाया। इन राजा भोगीलाल की इन्होंने अच्छी तारीफ़ की है, जैसे, "भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सब से अधिक ग्रंथ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तकों की संख्या ५२

और कोई ७२ तक बतलाते हैं। जो हो, इनके निम्नलिखित ग्रंथों का तो पता है—

(१) भाव-विलास (२) अष्टयाम (३) भवानी-विलास, (४) सुजान-विनोद (५) प्रेम-तरंग (६) राग-रत्नाकर, (७) कुशल-विलास (८) देव-चरित्र (९) प्रेम-चंद्रिका (१०) जाति-विलास (११) रस-विलास (१२) काव्य-रसायन या शब्द-रसायन (१३) सुख-सागर-तरंग, (१४) वृक्ष-विलास, (१५) पावस-विलास (१६) ब्रह्म-दर्शन पचीसी (१७) तत्त्व-दर्शन पचीसी (१८) आत्म-दर्शन पचीसी (१९) जगद्दर्शन पचीसी (२०) रसानंद-लहरी, (२१) प्रेम-दीपिका (२२) सुमिल-विनोद, (२३) राधिका-विलास (२४) नीति-शतक और (२५) नख-शिख प्रेमदर्शन।

ग्रंथों की अधिक संख्या के संबंध में यह जान रखना भी आवश्यक है कि देवजी अपने पुराने ग्रंथों के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे एक ही कवित्त बार बार इनके अनेक ग्रंथों में मिलेंगे। 'सुखसागर तरंग' तो प्रायः अनेक ग्रंथों से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है। 'राग रत्नाकर' में राग रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है। 'अष्टयाम' तो रात दिन के भोग-विलास की दिनचर्या है जो मानो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के सामने कालयापन-विधि का ब्योरा पेश करने के लिये बनी थी। 'ब्रह्मदर्शन-पचीसी' और 'तत्त्वदर्शन-पचीसी' में जो विरक्ति का भाव है वह बहुत संभव है कि अपनी कविता के प्रति लोगों की उदासीनता देखते देखते उत्पन्न हुई हो।

ये आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नहीं हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्य-शास्त्र के अभ्यासी पंडित

भी विशद रूप में सिद्धांत-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके। बात यह थी कि एक तो ब्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप में ही हुआ, विचार पद्धति के उत्कर्ष-साधन के योग्य वह न हो पाई। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। अत आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोगों ने भक्तिवश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग हैं जिन्हें "तात्पर्य वृत्ति" एक नया नाम मालूम होता है और जो सचारियों में एक 'छल' और बढा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्य्य वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य्य वृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है अत वह अभिधा से भिन्न नहीं, वाक्य-गत अभिधा ही है। रहा 'छल सचारी', वह संस्कृत की 'रसतरंगिणी' से, जहाँ से और बातें ली गई हैं, लिया गया है। दूसरी बात यह कि साहित्य के सिद्धांतग्रंथों से परिचित मात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ सचारी उपलक्षण मात्र हैं, सचारी और भी कितने हो सकते हैं।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिंदी के रीति-ग्रंथों में प्राय कुछ भी नहीं हुआ है। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक ज़रा है भी कठिन। इस दृष्टि से देवजी के इस कथन पर कि—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन॥

यहाँ अधिक कुछ कहने का अवकाश नहीं। व्यंजना की व्याप्ति कहाँ तक है, उसकी किस-किस प्रकार क्रिया होती है, इत्यादि बातों का पूरा विचार किए बिना कुछ कहना कठिन है। देवजी का यहाँ 'व्यंजना'

से तात्पर्य्य पोथी-बुभौवलवाली "वाक्यरचना" का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान में था।

कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मज़मून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका अंगभंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते मरोड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका सा अर्थसौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासंपन्न कवि थे इसमें संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दुरारूढ़ है। इनकी कविता के कुछ उत्तम उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> [illegible] पर, [illegible] के [illegible] पर
> मूठी के [illegible] पर, हेरित हुई रही।
> महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
> ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी बिथुरै रही॥
> भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ
> पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै रही।
> पारावार पूरन अपार परब्रह्म राशि,
> जसुदा के कोरें एक बार ही कुरै रही॥

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन
कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज',
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तो न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में॥

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

बिहारी-सतसई की 'अमरचन्द्रिका' टीका संवत् १७९४ में लिखी। अतः इनका कविता-काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

ये नसरुल्लाखाँ नामक सरदार के यहाँ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया जाया करते थे। इन्होंने 'बिहारी-सतसई', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ रची हैं जिनसे इनके साहित्य-ज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परिचय मिलता है। टीकाएँ व्रजभाषा गद्य में हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'वैताल-पचविंशति' का व्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया है और निम्नलिखित रीति ग्रंथ रचे हैं—

१—अलंकार-माला, २—रसरत्न माला, ३—सरस-रस, ४—रस-ग्राहक चंद्रिका, ५—नख-शिख, ६—काव्य-सिद्धांत, ७—रस-रत्नाकर।

अलंकार-माला की रचना इन्होंने 'भाषाभूषण' के ढंग पर की है। इसमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे में मिलते हैं। जैसे—

(क) हिम सो, हर के हास सो जस मालोपम ठानि।
(ख) सो असँगति, कारन अपर, कारज औरै थान॥
चलि अहि श्रुति आनहि डसत, नसत और के प्रान॥

इनके ग्रंथ सब मिले नहीं हैं। जितने मिले हैं उनसे ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कवि जान पड़ते हैं। इनकी कविता में तो कोई विशेषता नहीं जान पड़ती पर साहित्य का उपकार इन्होंने बहुत कुछ किया है। 'नख शिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजे उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥

भनत कविंद कुजभौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारै री।
काम-कंदुका से फूल टोलि डोलि डारैं, मन,
औरै किए डारे ये कदंबन की डारैं री॥

(१७) श्रीपति—ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७७७ में 'काव्य-सरोज' नामक रीतिग्रंथ बनाया। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

१—कविकल्पद्रुम, २—रस-सागर, ३—अनुप्रास-विनोद, ४—विक्रम-विलास, ५—सरोज-कलिका, ६—अलंकार-गंगा।

श्रीपति ने काव्य के सब अंगों का निरूपण विशद रीति से किया है। दोषों का विचार पिछले ग्रंथों से अधिक विस्तार के साथ किया है और दोषों के उदाहरणों में केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इससे इनका साहित्यिक विषयों का सम्यक् और स्पष्ट बोध तथा विचार-स्वातन्त्र्य प्रकट होता है। 'काव्य सरोज' बहुत ही प्रौढ ग्रंथ है। काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य में व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दासजी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होंने इनकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपने "काव्यनिर्णय" में चुपचाप रख ली हैं। आचार्य्यत्व के अतिरिक्त कवित्व भी इनमें ऊँची कोटि का था। रचना-विवेक इनमें बहुत ही जाग्रत और रुचि अत्यंत परिमार्जित थी। झूठे शब्दाडंबर के फेर में ये बहुत कम पड़े हैं। अनुप्रास इनकी रचनाओं में बराबर आए हैं पर उन्होंने अर्थ या भाव-व्यंजना में बाधा नहीं डाली है। अधिकतर अनुप्रास रसानुकूल वर्ण-विन्यास के रूप में आकर भाषा में कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य घटित करते पाए जाते हैं। पावस ऋतु का तो इन्होंने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

अरुन बदन और फरकैं बिसाल बाहु,
कौन को हियो है करै सामने जो रुख को।
प्रबल प्रचंड निसिचर फिरैं धाए,
धूरि चाहत मिलाए दसकंध अंध मुख को॥
चमकैं समरभूमि बरछी, सहस फन,
कहत पुकारे लंक-अंक दीह दुख को।
बलकि बलकि बोलैं बीर रघुबीर धीर,
महि पर मीड़ि मारौं आज दसमुख को॥

(१६) कृष्ण कवि—ये माथुर चौबे थे और बिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मंत्री, राजा आयामल्ल की आज्ञा से बिहारी-सतसई की जो टीका की उसमें महाराज जयसिंह के लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है और उनकी प्रशंसा भी की है। अतः यह निश्चित है कि यह टीका जयसिंह के जीवनकाल में ही बनी। महाराज जयसिंह संवत् १७६६ तक वर्त्तमान थे। अतः यह टीका संवत् १७८५ और १७९० के बीच बनी होगी। इस टीका में कृष्ण ने दोहों के भाव पल्लवित करने के लिये सवैये लगाए हैं और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किए हैं। काव्यांग इन्होंने अच्छी तरह दिखाए हैं और वे इस टीका के एक प्रधान अंग हैं, इसी से ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों के बीच ही रखे गए हैं।

इनकी भाषा सरल और चलती है तथा अनुप्रास आदि की ओर बहुत कम झुकी है। दोहों पर जो सवैये इन्होंने लगाए हैं उनसे इनकी सहृदयता, रचनाकौशल और भाषा पर अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित होता है। इनके दो सवैये देखिए—

"सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥"

छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥

जानि कृष्ण कहै लखि कुँवर मूरति मैं अभिलाष हिए सरसै।
जब नंदकिसोर बिहारी सदा बलि जानिक मैं हिय माँझ बसै॥

"भोरहिं धाम दोहने बिसरायो घर जानि।
तुमहु बन्द चली अब भाजुगनि के सानि॥"

है कवि कारन में जितनी बहु बार करी मनसा रस भीनी।
कृष्ण कृपानिधि दीन के बंधु सुनी असुनी तुम काने में कीनी॥
रीझते रंचक ही गुन सों वह बानि बिसारि मनो अब दीनी।
जानि परी तुमहू हरि जू! कलिकाल के दानिन की गति लीनी॥

(२०) रसिक सुमति—ये ईश्वरदास के पुत्र थे और संवत् १७८५ में वर्तमान थे। इन्होंने "अलंकार चंद्रोदय" नामक एक अलंकार ग्रंथ कुवलयानंद के आधार पर दोहों में बनाया। पद्यरचना साधारणतः अच्छी है। 'प्रत्यनीक' का लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में देखिए—

प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि-हितुहि दुख देय।
रवि सों चलै न कंज की दीपति ससि हरि लेय॥

(२१) गंजन—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७८६ में 'कमरुद्दीनखाँ हुलास' नामक शृंगाररस का एक ग्रंथ बनाया जिसमें भावभेद रसभेद के साथ षट्ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रंथ में इन्होंने अपना पूरा वंश-परिचय दिया है और अपने प्रपितामह मुकुटराय के कवित्व की प्रशंसा की है। कमरुद्दीनखाँ दिल्ली के बादशाह के वजीर थे और भाषाकाव्य के अच्छे प्रेमी थे। इनकी प्रशंसा गंजन ने खूब जी खोलकर की है जिससे जान पड़ता है इनके द्वारा कवि का बड़ा अच्छा सम्मान हुआ था। उपर्युक्त ग्रंथ एक अमीर को खुश करने के लिये लिखा गया है इससे षट्ऋतु-वर्णन के अंतर्गत उसमें अमीरी शौक और आराम के बहुत से सामान गिनाए गए हैं। इस बात में ये ग्वाल कवि से मिलते जुलते हैं। इस

पुस्तक में सच्ची भावुकता और प्रकृति-रंजन की शक्ति बहुत अल्प है। भाषा भी शिष्ट और प्रांजल नहीं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

मीना के महल जरबाफ दर परदा हैं,
हलबी फनूसन में रोसनी चिराग की।
गुलगुली गिलम गरकआब पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की॥
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एतमादद्दौला कमरुद्दीनखाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की॥

(२२) अलीमुहिबखाँ (प्रीतम)—ये आगरे के रहनेवाले थे। इन्होंने संवत् १७८७ में "खटमलबाईसी" नाम की हास्यरस की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकरण के आरंभ में कहा गया है कि रीतिकाल में प्रधानता शृंगाररस की रही। यद्यपि वीररस लेकर भी रीति-ग्रंथ रचे गए, पर किसी और रस को अकेला लेकर मैदान में कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हजरत अलीमुहिबखाँ साहिब ने कर दिखाया। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों में दिखाई पड़ता है। हास्य आलंबन-प्रधान रस है। आलंबन मात्र का वर्णन ही इस रस में पर्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्यक्षेत्र में हास के आलंबनों की परंपरा की जाँच करते हैं तब एक प्रकार की बँधी रूढ़ि सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों में खाऊपन और पेट की दिल्लगी बहुत कुछ बँधी सी चली आई। भाषा-साहित्य में कंजूसों की बारी आई। अधिकतर ये ही हास्यरस के आलंबन रहे। खाँ साहब ने शिष्ट हास का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इन्होंने हास्यरस के लिये खटमल को पकड़ा जिस पर यह संस्कृत उक्ति प्रसिद्ध है—

कमला कमले शेते, हरश्शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण-शंकया॥

तुच्छ और महान् के अभेद की भावना उनके भीतर कहीं छिपी हुई है। इन सब बातों के विचार से हम श्री लाल या पीतमजी को एक उत्तम श्रेणी का पद्यरचक कवि मानते हैं। इनका और कोई ग्रंथ नहीं मिलता न सही; इनकी "खटमल-बाईसी" ही बहुत काल तक इनका स्मरण बनाए रखने के लिये काफी है।

"खटमलबाईसी" के दो कवित्त देखिए—

जगत के कारन करन चारौ बेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोषन अवनि, दुखसोषन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस सेज करि कै॥
मदन जरायो जो सँहारै दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरबरि कै।
बिधि हरि हर, और इनतें न कोऊ, तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन सों डरि कै॥

—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥

(२१) दास (भिखारीदास)—ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश-परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास और वृद्धप्रपितामह राय नरोत्तमदास थे। दासजी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके अपुत्र

मर जाने से वंशपरंपरा खंडित हो गई। दासजी के इतने ग्रंथों का पता लग चुका है—

रससारांश (संवत् १७९९), छंदोर्णव पिंगल (संवत् १७९९), काव्यनिर्णय (संवत् १८०३), शृंगारनिर्णय (संवत् १८०७), नामप्रकाश (कोश, संवत् १७९५), विष्णुपुराण भाषा (दोहे चौपाई में), छंदप्रकाश, शतरंज शतिका, अमरप्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा-पद्य में)।

'काव्यनिर्णय' में दासजी ने प्रतापगढ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिंदूपतिसिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। राजा पृथ्वीपति संवत् १७९१ में गद्दी पर बैठे थे और १८०७ में दिल्ली के वजीर सफ़दरजंग द्वारा छल से मारे गए थे। ऐसा जान पड़ता है कि संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा अतः इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है।

काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीपति से इन्होंने बहुत कुछ लिया है*। इनकी विषय-प्रतिपादन-शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। जैसे, हिंदी काव्यक्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अंतर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधाकृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दासजी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

---

* देखो पृ० ३०१।

सौनजुही के सौन में मौन्य भामिनी भौर।
तिन्हें के पुणिमाली में कमे कुमनि-सिरमौर॥

पर यह कोई बड़े महत्व की उद्भावना नहीं कही जा सकती है। जो लोग दासजी के इस और हावों के नाम देखे पर चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्यदर्पण में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं—लीला विलास विच्छित्ति विब्बोक, किलकिंचित मोट्टायित कुट्टमित, विभ्रम ललित विहृत मद, तपन, मौग्ध्य विक्षेप कुतूहल हसित चकित और केलि। इनमें से अंतिम आठ को लेकर यदि दासजी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में और जोड़ दिया तो क्या नई बात की? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिंदी में संस्कृत के मुख्य सिद्धांत-ग्रंथों के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा।

अतः दासजी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों को देखते दासजी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य का पूरा रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे उपादान-लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरों के समान प्रधानतः कवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं।

दासजी ने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। शृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। अतः इन्होंने भी उसका वर्णन-विस्तार देव की तरह बढ़ाया है। देव ने भिन्न भिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों के वर्णन के लिये जाति-विलास लिखा जिसमें नाइन धोबिन सब आ गईं पर दासजी ने रसाभास के डर से या मर्यादा के ध्यान से इनको आलंबन के रूप में न रखकर

दूती के रूप में रखा है। इनके 'रससारांश' में नाइन, नटिन, धोबिन, कुम्हारिन, बरइन, सब प्रकार की दूतियाँ मौजूद हैं। इनमें देव की अपेक्षा अधिक रस विवेक था। इनका शृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं। इनकी रचना कलापक्ष में सयत और भाव-पक्ष में रञ्जनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है उसी प्रकार उनकी सी असफलता भी कहीं नहीं मिलती। जिस बात को ये जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। दासजी ऊँचे दरजे के कवि थे। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए—

वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घरकाज की धाई॥
ह्याँ दिखसाध निवारे रहौ तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पैए॥

ऊधो! तहाँ इ चलौ लै हमें जहँ कूबरि कान्ह बसैं एक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

वाले थे। क्षत्रियों की वीरता भी इनमें पूरी थी। एक बार अवध के नवाब सआदतखाँ से ये बिगड़ गए हुए। सआदतखाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तब ये बाहर सआदतखाँ के सामने ही बहुतों को मार-काटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए। इसका उल्लेख कवींद्र ने इस प्रकार किया है—

समर अमेठी के सरेष गुरुदत्तसिंह,
सादत की सेना समसेरन सों भानी है।
भनत कवींद्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है॥
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उड़ी
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को नीको जोबन-तरंग मानो,
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है॥

'सतसई' के अतिरिक्त भूपतिजी ने 'कंठाभूषण' और 'रस-रत्नाकर' नाम के दो रीति ग्रंथ भी लिखे थे जो कहीं देखे नहीं गए हैं। शायद अमेठी में हों। सतसई के दोहे दिए जाते हैं—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि मंडल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार॥
भए रसाल रसाल हैं भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद मंद॥

(२५) तोषनिधि—ये एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ये शृंगवेर-पुर (सिंगरौर जिला इलाहाबाद) के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७९१ में 'सुधानिधि' नामक एक अच्छा बड़ा ग्रंथ रसभेद और भाव-भेद का बनाया। खोज में इनकी दो पुस्तकें और मिली हैं—विनयशतक और नखशिख। तोषजी ने काव्यांगों के बहुत अच्छे लक्षण और सरस उदाहरण दिए हैं। उठाई हुई कल्पना का अच्छा निर्वाह हुआ है और भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। तोषजी एक बड़े ही सहृदय और निपुण कवि थे।

भावों का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नहीं है। बिहारी के समान इन्होंने भी कहीं कहीं ऊहात्मक अत्युक्ति की है। कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं।

भूषन भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस में छबि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि तोष अनोप भरी चतुराई।
होत सबै सुख की जनिता बनि आवति जौ बनिता कबिताई॥

एक कहै हँसि ऊधव जू! ब्रज की जुवती तजि चंद्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू! इक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा! मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढ़ति हैं कुबजा कछुआ सी॥

श्रीहरि की छबि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहि में करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित स्रौन जितै-तित सो करतो करि हेतो॥
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहै तोष कहै लिखितो बिधि एतो।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो॥

तौ तन में रवि को प्रतिबिंब परे किरनै सो घनी सरसाती।
भीतर हू रहि जात नहीं अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती॥
बैठि रहौ बलि, कोठरी में कह तोष करौं बिनती बहु भाँती।
सारसी-नैनि लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि घाम में जाती?

(२६-२७) दलपतिराय और वंशीधर—दलपतिराय महाजन और वंशीधर ब्राह्मण थे। दोनों अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इन लोगों ने संवत् १७९२ में उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर 'अलंकार-रत्नाकर' नामक ग्रंथ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' है। इसका 'भाषाभूषण' से प्रायः वही संबंध है जो 'कुवलयानंद' का 'चंद्रालोक' के साथ। इस ग्रंथ में विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का स्वरूप समझाने का

स्पष्ट किया गया है। इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिये कभी कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रंथकारों की सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कंठा के साथ ही साथ गद्य की उन्नति की आकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ों वर्ष बाद पूरी हुई।

'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरणों पर अलंकार घटाकर बताए गए हैं और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियों के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिए गए हैं। हिंदी-कवियों की लंबी नामावली ऐतिहासिक खोज में बहुत उपयोगी है।

कवि भी ये लोग अच्छे थे। पद्यरचना की निपुणता के अतिरिक्त इनमें भावुकता और बुद्धि-वैभव दोनों हैं। इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है।

अरुन हरौल नभमंडल-मुलुक पर
चढ्यो अक्क चक्वै कि तानि कै किरिन-कोर।
आवत ही साँवत नछत्र जोध धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर॥
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससी,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन ओर।
दुंद देखि अरविंद-बंदीखाने तें भगाने
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद-चोर॥

(२८) सोमनाथ—ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १७९४ में 'रसपीयूष-निधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दासजी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग निरूपण में ये

श्रीपति और दास के समान ही है। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।

रीति निरूपण के अतिरिक्त कवि-कर्म में भी ये सफल हुए हैं। कविता में ये अपना उपनाम 'ससिनाथ' भी रखते थे। इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी इससे इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी एक अन्योक्ति कल्पना की मार्मिकता और प्रभावपूर्ण व्यंग्य के कारण बहुत प्रसिद्ध है। सघन और पेचीले मजमून गाँठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध है। 'रसपीयूष-निधि' के अतिरिक्त खोज में इनके तीन और ग्रंथ मिले हैं—

कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी (संवत् १८)
सुजान-विलास (सिंहासन बत्तीसी पद्य में) (संवत् १८ ७)
माधव-विनोद नाटक (संवत् १८ ९)

उक्त ग्रंथों के निर्माणकाल की ओर ध्यान देने से इनका कविता काल संवत् १७९ से १८१ तक ठहरता है।

रीतिग्रंथ और मुक्तक-रचना के सिवा इस सत्कवि ने प्रबंधकाव्य की ओर भी ध्यान दिया। सिंहासन-बत्तीसी के अनुवाद को यदि हम काव्य न मानें तो कम से कम पद्यप्रबंध अवश्य ही कहना पड़ेगा। 'माधव-विनोद' नाटक शायद मालती-माधव के आधार पर लिखा हुआ प्रेमप्रबंध है। पहले कहा जा चुका है कि कल्पित कथा लिखने की प्रथा हिंदी के कवियों में प्रायः नहीं के बराबर रही। जहाँगीर के समय में संवत् १६७३ में बना पुहकर कवि का 'रसरतन' ही अब तक नाम लेने योग्य कल्पित प्रबंधकाव्य था। अतः सोमनाथजी का यह प्रयत्न उनके दृष्टि-विस्तार का परिचायक है। नीचे सोमनाथजी की कुछ कविताएँ दी जाती हैं—

दिसि बिदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरि गे

ठाढ़े भए द्रुम रच्छक दसा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदि हू न करिगे।
सोर भयो घोर चारो ओर महिमंडल में,
'आए घन, आए घन', आयकै उघरिगे॥

प्रीति नई नित कीजत है, सब सो छल की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमें दिन द्वैक तें जानि परी है॥
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरे अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है॥

झमकतु बदन मतग कुभ उत्तग अंग वर।
धवन-बलित भुसुड कुंडलित सुंडि सिद्धिधर॥
कंचन मनिमय मुकुट जगमगै सुघर सीस पर।
लोचन तीनि बिसाल चार भुज ध्यावत सुर नर॥
ससिनाथ नद स्वच्छद निति कोटि बिघन छरछद हर।
जय बुद्धि बिलद अमद दुति इंदुभाल आनदकर॥

(२६) रसलीन—इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। ये प्रसिद्ध बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहनेवाले थे, जहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् मुसलमान होते आए हैं। अपने नाम के आगे 'बिलगरामी' लगाना एक बड़े सम्मान की बात वहाँ के लोग समझते थे। गुलाम नबी ने अपने पिता का नाम बाकर लिखा है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंगदर्पण" संवत् १७९४ में लिखी जिसमें अंगों का, उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त, चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सूक्तियों के चमत्कार के लिये यह ग्रंथ काव्य-रसिकों में बराबर विख्यात चला आया है। यह प्रसिद्ध दोहा, जिसे जनसाधारण बिहारी का समझा करते है, अंगदर्पण का ही है—

> अमिय हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
> जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

'अंगदर्पण' के अतिरिक्त रसलीनजी ने सं. १७९८ में 'रसप्रबोध' नामक रसनिरूपण का ग्रंथ दोहों में बनाया। इसमें ११५५ दोहे हैं और रस, भाव, नायिकाभेद, षट्ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसंग आए हैं। रस-विषय का अपने ढंग का यह छोटा सा अच्छा ग्रंथ है। रसलीन ने स्वयं कहा है कि इस छोटे से ग्रंथ को पढ़ लेने पर रस का विषय जानने के लिये और ग्रंथ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। पर यह ग्रंथ अंगदर्पण के ऐसा प्रसिद्ध न हुआ।

रसलीन ने अपने को दोहों की रचना तक ही रखा जिसमें पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य का अवकाश बहुत ही कम रहता है। चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य की ओर इन्होंने अधिक ध्यान रखा। नीचे इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

> धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाय।
> छाँह परे पर पुरुष की, जनि तिय-धरम नसाय॥
> चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढ़ि छुवन छवानि।
> कटि निज दरब धरयो चहत, वक्षस्थल में आनि॥
> कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय।
> तुव मुख-मधुराई लखे, फीको परि घटि जाय॥
> रमनी-मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत।
> दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत॥
> तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
> प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात॥

(१०) रघुनाथ—ये बंदीजन एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं जो काशिराज महाराज बरिबंडसिंह की सभा को सुशोभित करते थे। काशी-नरेश ने इन्हें चौरा ग्राम दिया था। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने महाभारत का

भाषा-अनुवाद किया जो काशिराज के पुस्तकालय में है। ठाकुर शिवसिंहजी ने इनके चार ग्र थों के नाम लिखे हैं—

काव्य-कलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन और इश्क-महोत्सव। बिहारी-सतसई की एक टीका का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इनका कविता काल सवत् १७९० से १८१० तक समझना चाहिए।

'रसिकमोहन' (स० १७९६) अलकार का ग्रथ है। इसमें उदाहरण केवल शृगार के ही नहीं हैं, वीर आदि अन्य रसों के भी बहुत अधिक हैं। एक अच्छी विशेषता तो यह है कि इसमें अलकारों के उदाहरण में जो पद्य आए हैं उनके प्राय सब चरण प्रस्तुत अल-कार के सु दर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैये का सारा कलेवर अलकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलकारों के उदाहरण में जो पद्य रखे हैं उनका केवल अतिम या और कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है। उपमा के उदाहरण में इनका यह प्रसिद्ध कवित्त लीजिए—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सिय रे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सो नियरे॥
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु,
भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे॥

"काव्य कलाधर" (स० १८०२) रस का ग्रथ है। इसमें प्रथानुसार भावभेद, रसभेद थोड़ा बहुत कहकर नायिकाभेद और नायकभेद का ही विस्तृत वर्णन है। विषय-निरूपण इसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'जगतमोहन' (स० १८०७) वास्तव में एक

सुभरे सिलाह राखै, वायु वेग वाह राखै,
रसद की राह राखै, राखे रहै बन को।
चोर को समाज राखै बजा औ नजर, राखै
खबरि के काज बहुरूपी हर फन को॥
आगम भखैया राखै, सगुन लेवैया राखै,
कहै रघुनाथ औ विचार बीच मन को।
बाजी हारै कबहूँ न औसर के परे जौन
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को॥

आप दरियाव, पास नदियो के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी॥
मेरे तो लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है, आप उसके न,
आप क्यों चलोगे? वह आप पास आवैगी॥

(३१) दूलह—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। ऐसा जान पड़ता है कि ये अपने पिता के सामने ही अच्छी कविता करने लगे थे। ये कुछ दिनों तक अपने पिता के सम-सामयिक रहे। कवींद्र के रचे ग्रंथ १८०४ तक के मिले हैं। अत इनका कविता-काल संवत् १८०० से लेकर संवत् १८२५ के आस-पास तक माना जा सकता है। इनका बनाया एक ही ग्रंथ "कवि-कुल कंठाभरण" मिला है जिसमें निर्माण-काल नहीं दिया है। पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते हैं।

"कविकुल-कंठाभरण" अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में कहे गए हैं पर कवित्त और सवैया के समान बड़े छंद लेने से अलंकार-स्वरूप और उदाहरण दोनों के सम्यक् कथन के लिये पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण

आदि ग्रंथों में रखे हुए इस प्रकार के प्रश्नों से इसमें बड़ी विशेषता है। इसके द्वारा सहज में अलंकारों का चलता बोध हो सकता है। इसी से दूलहजी ने इसके संबंध में आप कहा है—

> जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
> सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इनके कविकुल-कंठाभरण में केवल ८५ पद्य हैं। फुटकल जो कवित्त मिलते हैं वे अधिक से अधिक १५ या २० होंगे। अतः इनकी रचना बहुत थोड़ी है, पर थोड़ी होने पर भी उसने इन्हें बड़े अच्छे और प्रतिभा-संपन्न कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। देव, दास, मतिराम आदि के साथ दूलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुरता, सरसता, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिये भी। किसी कवि ने इन पर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि "और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय"।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

> माने सनमाने तेइ माने सनमाने सन,
> माने सनमाने सनमान पाइयतु है।
> कहैं कवि दूलह अजाने अपमाने,
> अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है॥
> जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार,
> जानि बूझि भूले तिनको सुनाइयतु है।
> कामबस परे कोऊ गहत गरूर, तौ वा
> अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है॥

—

> धरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं'
> पायँ दियौ पलिकाहीं 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ।

बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई है ॥
चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई है ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्ही चितचाही, यह
'हाँ' तें भली 'नाहीं' सो कहाँ तें सीखि आई है ॥

उरज उरज धँसे, बसे उर आड़े लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छवि छाए हो ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हो ॥
जावक सो लाल भाल, पलकन पीकलीक,
प्यारे ब्रज चंद सुचि सूरज सुहाए हो ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरबसी घर बसी करि आए हो ?

सारी की सरौंट सब सारी में मिलाय दीन्हीं,
भूपन की जेब जैसे जेब जहियतु है ।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है ॥
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सो लखाई लहियतु है ।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, हम नाहीं",
"एजू! राम राम कहौ", 'नाहीं नाहीं' कहियतु है ॥

फल विपरीत को जतन सो 'विचित्र',
हरि ऊँचे होत बामन भे बलि के सदन में ।
आधार बड़े तें बड़ो आधेय 'अधिक' जानो,
चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन में ॥

भाषेन भनित तें भाषार की भनितव्याई,
"दूसरे भनित" आवो ऐसो गनमान है।
तीन्यों वेद धन मैं समाज्यो या वचन मैं
दसे है संत-धन मैं विवेक कौ बन है॥

(२९) कुमारमणिभट्ट—इनका कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक-रसाल" नामक एक बहुत अच्छा रीतिग्रंथ बनाया। ग्रंथ में इन्होंने अपने को हरिवल्लभ का पुत्र कहा है। शिवसिंह ने इन्हें गोकुलवासी कहा है। इनका एक सवैया देखिए—

गावैं वधू मधुरै सुर गीतन प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति मैं छवि मानो बिछाई नई दरियाई॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यों बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरै हियरा, हरि आए नहीं उलही हरियाई॥

(३०) शंभुनाथ मिश्र—इस नाम के कई कवि हुए हैं जिनमें से एक संवत् १८०१ में दूसरे १८६७ में और तीसरे १९०१ में हुए हैं। यहाँ प्रथम का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने 'रसकल्लोल' 'रसतरंगिणी' और 'अलंकारदीपक' नामक तीन रीतिग्रंथ बनाए हैं। ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' में अधिकतर दोहे हैं, कवित्त सवैया कम। उदाहरण शृंगार-वर्णन में अधिक प्रयुक्त न होकर भगवंतराय के यश और प्रताप-वर्णन में अधिक प्रयुक्त हैं। एक कवित्त दिया जाता है—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही,
धौंसा की धुकार धूरि परी मुँह माही के।
भय के अजीरन तें जीरन उजीर भए,
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के॥
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो, इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।
भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के॥

(३४) शिवसहायदास—ये जयपुर के रहनेवाले थे। इन्होंने संवत् १८०९ में 'शिवचौपाई' और 'लोकोक्तिरस-कौमुदी' दो ग्रंथ बनाए। लोकोक्तिरस कौमुदी में विचित्रता यह है कि पखानों या कहावतों को लेकर नायिकाभेद कहा गया है, जैसे,

करौ रुखाई नाहिन बाम। वेगिहि लै आऊँ घनस्याम॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी ताँत, कि बूझ्यो राग॥
बोलै निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो, कूदी गोन॥

(३५) रूपसाहि—ये पन्ना के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने संवत् १८१३ में 'रूपविलास' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें दोहों में ही कुछ पिंगल, कुछ अलंकार, कुछ नायिकाभेद आदि हैं। दो दोहे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूषन-जोति।
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सो होति॥
लालन बेगि चलौ न क्यो? बिना तिहारे बाल।
मार-मरोरनि सो मरति, करिए परसि निहाल॥

(३६) ऋषिनाथ—ये असनी के रहनेवाले बंदीजन, प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के प्रपितामह थे। काशिराज के दीवान सदानंद और रघुवर कायस्थ के आश्रय में इन्होंने "अलंकार-मणि-मंजरी" नाम की एक अच्छी पुस्तक बनाई जिसमें दोहों की संख्या अधिक है, यद्यपि बीच बीच में घनाक्षरी और छप्पय भी हैं। इसका रचना-काल संवत् १८३१ है जिससे यह इनकी वृद्धावस्था का ग्रंथ जान पड़ता है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८३१ तक माना जा सकता है। कविता ये अच्छी करते थे। एक कवित्त दिया जाता है—

छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में,
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै॥

> अतिशय सर्वांग-सुभग सिरपर,
> चमत्कार है हरैया पंचरतिय सुधर है।
> सीतल को सीतल करत घनसार है
> महीतल को पावन करत गंगधार है॥

(१७) बैरीसाल—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अब तक असनी में हैं। इन्होंने 'भाषाभरण' नामक एक अच्छा अलंकार ग्रंथ संवत् १८२५ में बनाया जिसमें प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

> नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक।
> बीस बिसे बिरहा दही, गड़ी दीठि ससि अंक॥
> करत कोकनद मदहि रद, तुव पद हर सुकुमार।
> भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

(१८) दत्त—ये माढ़ी (जिला कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होंने "लालित्यलता" नाम की एक अलंकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक सवैया दिया जाता है—

> ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
> घाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनश्याम दुकूल सों॥
> कंपत यों प्रगट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
> द्वै अरविंद-कलीन पै मानो गिरैं मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(१९) रतन कवि—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने इनका जन्मकाल संवत् १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता-काल संवत् १८३० के आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतहसाहि के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर "फतेहभूषण" नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होंने बनाया। इसमें लक्षणा व्यंजना काव्यभेद ध्वनि रस दोष आदि का विस्तृत

र्णन है। उदाहरण में शृंगार के ही पद्य न रखकर इन्होंने अपने राजा की प्रशंसा के कवित्त बहुत रखे हैं। संवत् १८२७ में इन्होंने 'अलंकारदर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस हैं। ये एक उत्तम श्रेणी के कुशल कवि थे, इसमें संदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीषन निदाघ-रवि,
कुवलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान-झरि सिंधुर है, जग को बसुंधर है,
बिबुधकुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर को,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अंग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाहु फतेहसाह एकै नरवरु है॥

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै।
स्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही बदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन
हरन हिए को तू है रमा रति ही अवै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती
चंद पर च्वै रहे सु मानो सुधाबुंद द्वै॥

(४०) नाथ (हरिनाथ)—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १८२६ में "अलंकार-दर्पण" नामक एक छोटा सा ग्रंथ बनाया जिसमें एक एक पद्य के भीतर कई कई उदाहरण हैं। इनका क्रम औरों से विलक्षण है। ये पहले अनेक दोहों में बहुत से लक्षण कहते गए हैं फिर एक साथ सबके उदाहरण कवित्त आदि में देते गए हैं। कविता साधारणतः अच्छी है। एक दोहा देखिए—

सकसी लखी मदन तें बालति रूपनि सुवास।
घोरस घोरस देत नहिं गिरत जाति हुलास ॥

(५१) मनीराम मिश्र—ये कन्नौज-निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १८२९ में 'छंदछप्पनी' और 'आनंदमंगल' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। 'आनंदमंगल' भागवत दशम स्कंध का पद्य में अनुवाद है। 'छंदछप्पनी' छंद शास्त्र का बड़ा ही उत्तम ग्रंथ है।

(५२) चंदन—ये नाहिल पुवायाँ (जिला शाहजहाँपुर) के रहनेवाले बंदीजन थे और गौड़ राजा केसरीसिंह के पास रहा करते थे। इन्होंने 'शृंगार-सागर' 'काव्याभरण' 'कल्लोलतरंगिणी' ये तीन रीति-ग्रंथ लिखे। इनके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

(१) केसरीप्रकाश (२) चंदन-सतसई, (३) पथिकबोध, (४) नखशिख, (५) नाममाला (कोश) (६) पत्रिका-बोध (७) तत्त्वसंग्रह (८) सीतबसंत (कहानी) (९) कृष्णकाव्य, (१) प्राज्ञ विलास।

ये एक अच्छे चलते कवि जान पड़ते हैं। इन्होंने 'काव्याभरण' संवत् १८४५ में लिखा। फुटकल रचना तो इनकी अच्छी है ही। सीतबसंत की कहानी भी इन्होंने प्रबंधकाव्य के रूप में लिखी है। सीतबसंत की रोचक कहानी इन प्रांतों में बहुत प्रचलित है। उसमें विमाता के अत्याचार से पीड़ित सीतबसंत नामक दो राजकुमारों की बड़ी लंबी कथा है। इनकी पुस्तकों की सूची देखने से यह धारणा होती है कि इनकी दृष्टि रीतिग्रंथों तक ही बद्ध न रहकर साहित्य के और अंगों पर भी थी।

ये फारसी के भी अच्छे शायर थे और अपना तखल्लुस 'संदल' रखते थे। इनका 'दीवाने संदल' कहीं कहीं मिलता है। इनका कविता-काल संवत् १८२० से १८६० तक माना जा सकता है। इनका एक सवैया नीचे दिया जाता है—

मजवारी गँवारी है जाने कहा, यह चातुरता न लुगायन में।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है, रचि एती न चदन नायन में॥
छवि रग सुरग के बिंदु बने लगैं इंद्रवधू लघुतायन में।
चित जो चहैं दी चकि सी रहैं दी, केहि दी मेंहदी इन पायन में॥

(४३) देवकीनदन—ये कन्नौज के पास मकरदनगर ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम सबली शुक्ल था। इन्होंने सवत् १८४१ में 'शृंगार-चरित्र' और १८५७ में 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज चंद्रिका' नामक रस और अलकार के ग्रथ बनाए। सवत् १८४३ में ये कुँवर सरफराज गिरि नामक किसी धनाढ्य महत के यहाँ थे जहाँ इन्होंने "सरफराजचद्रिका" नामक अलकार का ग्रथ लिखा। इसके उपरांत ये रुद्दामऊ (जिला हरदोई) के रईस अवधूतसिंह के यहाँ गए जिनके नाम पर "अवधूत-भूषण" बनाया। इनका एक नखशिख भी है। शिवसिंह को इनके इस नखशिख का ही पता था, दूसरे ग्रंथों का नहीं।

'शृगारचरित्र' में रस, भाव, नायिकाभेद आदि के अतिरिक्त अलकार भी आ गए हैं। 'अवधूत-भूषण' वास्तव में इसी का कुछ प्रवर्द्धित रूप है। इनकी भाषा मँजी हुई और भाव प्रौढ हैं। बुद्धि-वैभव भी इनकी रचना में पाया जाता है। कहीं कहीं कूट भी इन्होंने कहे हैं। कला-वैचित्र्य की ओर अधिक झुकी हुई होने पर भी इनकी कविता में लालित्य और माधुर्य्य पूरा है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

बैठी रग-रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।
देवकीनदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर ! मैं॥
सेज पै सदासिव की मूरति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मैं।
पाखन में सामरे सुलाखन में अखैवट,
ताखन में लाखन की लिखी तसबीर मैं॥

———

> मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारै,
> फेरि कै न जैहौं आली, दुख बिसरारे हैं।
> देवकीनंदन कहैं चोखे नागछौनन के
> अलकें प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं॥
> मानि मुख चंद भाव चोंच दई अधरन,
> तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
> ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे, तैसे
> मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं॥

(५४) महाराज रामसिंह—ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होंने रस और अलंकार पर तीन ग्रंथ लिखे हैं—अलंकार-दर्पण, रसनिवास (सं० १८३९) और रसविनोद (सं० १८६०)। अलंकारदर्पण दोहों में है। नायिकाभेद भी अच्छा है। ये एक अच्छे और प्रवीण कवि थे। उदाहरण लीजिए—

> सोहत सुंदर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
> मनो नीलमनि सैल पर नाचत राजत मोर॥
> दमकन लागी दामिनी, करन लगे घन रोर।
> बोलति माती कोइलैं बोलत माते मोर॥

(५५) मान कवि—इनके पूरे नाम तक का पता नहीं। इन्होंने संवत् १८१८ में 'नरेंद्र-भूषण' नामक अलंकार का एक ग्रंथ बनाया जिससे केवल इतना ही पता लगता है कि ये राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुंदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने अलंकारों के उदाहरण शृंगाररस के प्रायः बराबर ही वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसों के रखे हैं। इससे इनके ग्रंथ में कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है जो शृंगार के सैकड़ों वर्ष के पिष्टपेषण से ऊबे हुए पाठक को विराम सा देती है। इनकी कविता में भूषण की सी फड़क और प्रसिद्ध शृंगारियों की सी तन्मयता और मधुरता तो नहीं है पर रचना प्रायः पुष्ट और परिमार्जित है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

रन-मतवारे ये जोरावर दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब दिलीस पर।
दल के चलत भर भर होत चारो ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर॥
देखि कै समर-सनमुख भयो ताहि समै,
बरनत भाग पैंज कै कै बिसे बीस पर।
तेरी समसेर की सिफत सिंह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर॥

घन से सघन स्याम, इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी, लाल!
आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सी॥
ताके दिग अमल ललौहैं बिबि बिद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सी॥
भीतर तें कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान परि कानन सुहाति सी॥

(४६) थान कवि—ये चंदन बंदीजन के भानजे थे और डौंड़िया-खेरे (जिला रायबरेली) में रहते थे। इनका पूरा नाम थानराय था। इनके पिता निहालराय, पितामह महासिंह और प्रपितामह लालराय थे। इन्होंने संवत् १८४८ में 'दलेल-प्रकाश' नामक एक रीतिग्रंथ चँड़रा (बैसवारा) के रईस दलेलसिंह के नाम पर बनाया। इस ग्रंथ में विषयों का कोई क्रम नहीं है। इसमें गणविचार, रस-भाव-भेद, गुणदोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं कहीं अलंकारों के कुछ लक्षण आदि भी दे दिए गए हैं। कहीं राग-रागिनियों के नाम आए, तो उनके भी लक्षण कह दिए। पुराने टीकाकारों की सी गति है। अंत में चित्रकाव्य भी रखे हैं। सारांश यह है कि इन्होंने कोई सर्वांगपूर्ण ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इसे नहीं लिखा है। अनेक विषयों में अपनी निपुणता का प्रमाण सा इन्होंने उप-

में इन्होंने रस निरूपण किया है। पर ये अपने इन दोनों ग्रंथों के कारण इतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने अपने भँड़ौवों के लिये। इनके भँड़ौवों का एक संग्रह "भँड़ौवा संग्रह" के नाम से भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

भँड़ौवा हास्यरस के अंतर्गत आता है। इसमें किसी की उपहास पूर्ण निंदा रहती है। यह प्राय सब देशों में साहित्य का एक अंग रहा है। जैसे, फ़ारसी और उर्दू की शायरी में 'हजो' का एक विशेष स्थान है वैसे ही अँगरेजी में सटायर (Satire) का। फ़ारसी साहित्य में 'उपहास काव्य' के लक्ष्य अधिकतर कंजूस अमीर या आश्रयदाता ही रहे हैं और योरपीय साहित्य में समसामयिक कवि और लेखक। इससे योरप के उपहास काव्य में साहित्यिक मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी। उर्दू साहित्य में सौदा 'हजो' के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने किसी अमीर के दिए हुए घोड़े की इतनी हँसी की है कि सुननेवाले लोट पोट हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी कवि ने औरंग-जेब की दी हुई हथिनी की निंदा की है—

> तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
> रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के॥
> जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
> साहजहाँ करि न्याय ताहि पुनि माँड़ चटायो॥
> बल रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार-डर।
> औरंगजेब करिनी सोइ लै दीन्हीं कविराज कर॥

इस पद्धति के अनुयायी बेनीजी ने भी कहीं बुरी रजाई पाई तो उसकी निंदा की, कहीं छोटे आम पाए तो उनकी निंदा जी खोल कर की।

पर जिस प्रकार उर्दू के शायर कभी कभी दूसरे कवि पर भी छींटा दे दिया करते हैं, उसी प्रकार बेनीजी ने भी लखनऊ के ललकदास महंत (इन्होंने 'सत्योपाख्यान' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें राम-

बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसो सुमेर सो लगत है॥

(४८) **बेनी प्रवीन**—ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवलकृष्ण उर्फ ललनजी के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से संवत् १८७४ में इन्होंने 'नवरस-तरंग' नामक ग्रंथ बनाया। इसके पहले 'शृंगार भूषण' नामक एक ग्रंथ ये बना चुके थे। ये कुछ दिन के लिये महाराज नाना राव के पास बिठूर भी गए थे और उनके नाम पर "नानाराव प्रकाश" नामक अलंकार का एक बड़ा ग्रंथ कविप्रिया के ढँग पर लिखा था। खेद है इनका कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित न हुआ। इनके फुटकल कवित्त तो इधर उधर बहुत कुछ संगृहीत और उद्धृत मिलते हैं। कहते हैं कि बेनी बंदीजन (भँड़ौवावाले) से इनसे एक बार कुछ वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें 'प्रवीन' की उपाधि दी थी। पीछे से रुग्ण होकर ये सपत्नीक आबू चले गए और वहीं इनका शरीर-पात हुआ। इन्हें कोई पुत्र न था।

इनका 'नवरस-तरंग' बहुत ही मनोहर ग्रंथ है। उसमें नायिका-भेद के उपरांत रसभेद और भावभेद का संक्षेप में निरूपण हुआ है। उदाहरण और रसों के भी दिए गए हैं पर रीतिकाल के रससंबंधी और ग्रंथों की भाँति यह शृंगार का ही ग्रंथ है। इसमें नायिकाभेद के अंतर्गत प्रेम-क्रीड़ा की बहुत सी सुंदर कल्पनाएँ भरी पड़ी हैं। भाषा इनकी बहुत साफ़-सुथरी और चलती है, बहुतों की भाषा की तरह लद्‌ड़ नहीं। ऋतुओं के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं किए हैं, जिनमें प्रथानुसार भोग-विलास की सामग्री भी बहुत कुछ आ गई है। अभिसारिका आदि कुछ नायिकाओं के

(४६) जसवंतसिंह द्वितीय—ये बघेल क्षत्रिय और तेरवाँ (कन्नौज के पास) के राजा थे और बड़े विद्या-प्रेमी थे। इनके पुस्तकालय में संस्कृत और भाषा के बहुत से ग्रंथ थे। इनका कविता-काल संवत् १८५६ अनुमान किया गया है। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे—एक सालिहोत्र और दूसरा शृंगार-शिरोमणि। यहाँ इसी दूसरे ग्रंथ से प्रयोजन है, जो शृंगार रस का एक बड़ा ग्रंथ है। कविता साधारण है। एक कवित्त देखिए—

घनन के घोर, सोर चारो ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय,
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली झनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सु नै रहैं।
लुनै रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं॥

(५०) यशोदानंदन—इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं। शिवसिंह-सरोज में इनका जन्म-संवत् १८२८ लिखा पाया जाता है। इनका एक छोटा सा ग्रंथ "बरवै नायिका-भेद" ही मिलता है जो निस्संदेह अनूठा है और रहीमवाले से अच्छा नहीं तो उसकी टक्कर का है। इसमें ९ बरवा संस्कृत में और ५३ ठेठ अवधी भाषा में हैं। अत्यंत मृदु और कोमल भाव अत्यंत सरल और स्वाभाविक रीति से व्यंजित हैं। भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है। इस दृष्टि से इनकी यह छोटी सी रचना बहुत सी बड़ी बड़ी रचनाओं से मूल्य में बहुत अधिक है। कवियों की श्रेणी में ये निस्संदेह उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके बरवै के नमूने देखिए—

(संस्कृत) यदि च भवति बुध मिलनं किं त्रिदिवेन।
यदि च भवति शठ मिलनं किं निरयेण॥

——

(यथा) अहिरिनि मन कै गहिरिनि उतरु न देइ।
नैना करै मथनिया, मन मथि लेइ॥
तुरकिनि जाति हुरुकिनी अति इतराइ।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ॥
पीतम तुम कचलोइया हम गजवेलि।
सारस कै असि जोरिया, फिरौं अकेलि॥

(५१) करन कवि—ये षट्कुल कान्यकुब्जों के अंतर्गत पांडे थे और छत्रसाल के वंशधर पन्ना-नरेश महाराज हिंदूपति की सभा में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८६० के लगभग माना जा सकता है। इन्होंने 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल' नामक दो रीतिग्रंथ लिखे हैं। 'साहित्यरस' में इन्होंने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रसभेद, गुण, दोष आदि काव्य के प्रायः सब विषयों का विस्तार से वर्णन किया है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रीतिग्रंथ है। कविता भी इसकी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुकवि होना सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त देखिए—

कंटकित होत गात बिपिन-समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो हरसतु है।
एते है करन धुनि धावनि मयूरन की,
चातक पुकारि तेह ताप सरसतु है॥
निपट चवाई भाई बंधु जे बसत गाँव
दाँव परे जानिकै न कोऊ बरजतु है।
अरज्यो न मानी तू न गरज्यो चलत बार
एरे घन बैरी! अब काहे गरजतु है॥

—

खल खंडन मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड।
दलमंडन दारुन समर हिंदुराज भुजदंड॥

(५२) गुरदीन पांडे—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८६० में 'बागमनोहर' नामक एक बहुत ही बड़ा रीतिग्रंथ

कविप्रिया की शैली पर बनाया। 'कवि-प्रिया' से इसमें विशेषता यह है कि इसमें पिंगल भी आ गया है। इस एक ही ग्रंथ में पिंगल, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सब कुछ अध्ययन के लिये रख दिया गया है। इससे यह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें ८२ प्रकार के छंद हैं। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में बड़ी सुंदर रचना है। यह अत्यंत रोचक और उपादेय ग्रंथ है। कुछ पद्य देखिए—

मुख-ससी ससि दून कला धरे। कि मुकुता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानुकुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भृकुटि यों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु बिथा घनी।
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया! मुख के सम को कहै?

(५३) ब्रह्मदत्त—ये ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिंह के छोटे भाई बाबू दीपनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने संवत् १८६० में 'विद्वद्विलास' और १८६५ में 'दीपप्रकास' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ बनाया। इनकी रचना सरल और परिमार्जित है। आश्रयदाता की प्रशंसा में यह कवित्त देखिए—

कुसल कलानि में, करनहार कीरति को,
कवि कोबिदन को कलप-तरुवर है।
सील सनमान बुद्धि बिद्या को निधान ब्रह्म,
मतिमान हंसन को मानसरवर है॥
दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो,
दीन दुख देखत हरत हरबर है।
गाहक गुनी को, निरवाहक दुनी को नीको,
गनी गज-बकस, गरीबपरवर है॥

(५४) पद्माकरभट्ट—रीतिकाल के कवियों में सहृदय-समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के

भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे में हुआ था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण इनका कई राजधानियों में अच्छा सम्मान हुआ था। ये कुछ दिनों तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से वे फिर जयपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकरजी हुए। पद्माकरजी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे में हुआ। इन्होंने ८० वर्ष की आयु भोगकर अंत में कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० में शरीर छोड़ा। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना मन्त्रगुरु बनाया। संवत् १८४९ में ये गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने "हिम्मत बहादुर-विरुदावली' नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकरजी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय में भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर

अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। ऐसा जान पड़ता है जयपुर में ही इन्होंने अपना अलंकार का ग्रंथ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहों में है। ये एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार में भी गए थे जहाँ इनका बहुत अच्छा सम्मान हुआ था। महाराणा साहब की आज्ञा से इन्होंने "गनगौर" के मेले का वर्णन किया था। महाराज जगतसिंह का परलोकवास संवत् १८६० में हुआ। अत उसके अनंतर ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दरबार में गए और यह कवित्त पढ़ा—

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।
कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को,
पिंजर सो घेरि कै कलिंजर छुड़ावैगो॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

सेंधिया दरबार में भी इनका अच्छा मान हुआ। कहते हैं कि वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर से ये बूँदी गए और वहाँ से फिर अपने घर बाँदे में आ रहे। आयु के पिछले दिनों में ये रोगग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने "प्रबोध-पचासा" नामक विराग और भक्तिरस से पूर्ण ग्रंथ बनाया। अंतिम समय निकट जान पद्माकरजी गंगातट के विचार से कानपुर चले आए और वहीं अपने जीवन के शेष सात वर्ष पूरे किए। अपनी प्रसिद्ध 'गंगालहरी' इन्होंने इसी समय के बीच बनाई थी।

'राम रसायन' नामक वाल्मीकि-रामायण का आधार लेकर लिखा हुआ एक चरित-काव्य भी इनका दोहे चौपाइयों में है पर उसमें इन्हें काव्य संबंधिनी सफलता नहीं हुई है। संभव है वह इनका न हो।

भीतर बिहारी के जोड़ का दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे में हुआ था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण इनका कई राजधानियों में अच्छा सम्मान हुआ था। ये कुछ दिनों तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से ये फिर जयपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकरजी हुए। पद्माकरजी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे में हुआ। इन्होंने ८० वर्ष की आयु भोगकर अंत में कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० में शरीर छोड़ा। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना मंत्रगुरु बनाया। संवत् १८४९ में ये गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने "हिम्मतबहादुर-विरदावली" नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकरजी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय में भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर

भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ सुथरी है—कहीं अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। भाव-मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना का क्या कहना है! ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मज़मून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिमान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

पद्माकरजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीवट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारै ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो स्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तौ बोरयो, पै निचोरत बनै नहीं॥

मतिरामजी के 'रसराज' के समान पद्माकरजी का 'जगद्विनोद' भी काव्यरसिकों और अभ्यासियों दोनों का कण्ठहार रहा है। वास्तव में यह शृंगाररस का सार ग्रंथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभावपूर्ण मूर्त्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्त्ति-विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्त्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है, और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्यजीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखाई पड़ती है।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिंदी के प्रायः सब कवियों में आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकरजी भी उसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों में ही मिलेगी जिनमें ये जान बूझकर शब्द चमत्कार प्रकट करना चाहते थे। अनुप्रास की दीर्घ शृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक (Descriptive) पद्यों में पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुंदर कोमल भाव-तरंग का स्पंदन है वहाँ भी

भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ सुथरी है—यहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। भाव-मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना का क्या कहना है! ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मज़मून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिमान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

पद्माकरजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारै ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो स्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तौ बोर्‌यो, पै निचोरत बनै नहीं॥

कदंम, अनार, आम, अगर, असोक-थोक,
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे॥

तीखे तेगवाही जे सिपाही चढ़े घोड़न पै,
स्याही चढ़े अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़े हाथिन पै
धूरि धार चढ़े पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़े मुख पै, बहाली चढ़े बाहन पै,
काली चढ़े सिंह पै, कपाली चढ़े बैल पै॥

ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ, नँदनंदन! जानि लिए मैं॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयौ जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मैं?

(५५) ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहनेवाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। इनका कविता-काल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक है। अपना पहला ग्रंथ 'यमुना लहरी' इन्होंने संवत् १८७९ में और अंतिम ग्रंथ 'भक्तभावन' संवत् १९१९ में बनाया। रीतिग्रंथ इन्होंने चार लिखे हैं—'रसिकानंद' (अलंकार), 'रसरंग' (संवत् १९०४), कृष्णजू को नख-शिख (संवत् १८८४) और 'दूषण-दर्पण' (संवत् १८९१)। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—हम्मीर हठ (संवत् १८८१) और गोपी पचीसी।

और भी दो ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं—'राधा-माधव-मिलन' और 'राधा-अष्टक'। 'कविहृदय-विनोद' इनकी बहुत सी कविताओं का संग्रह है।

रीतिकाल की सनक इनमें इतनी अधिक थी कि इन्हें 'यमुना लहरी' नामक देवस्तुति में भी नवरस और षट्ऋतु सुझाई पड़ी है। भाषा इनकी चलती और व्यवस्थित है। वाग्विदग्धता भी इनमें अच्छी है। षट्ऋतुओं का वर्णन इन्होंने विस्तृत किया है पर वही शृंगारी उद्दीपन के ढंग का। इनके ऋतुवर्णन के कवित्त लोगों के मुँह से अधिक सुने जाते हैं जिनमें बहुत से भोग-विलास के अमीरी सामान भी गिनाए गए हैं। ग्वाल कवि ने देशाटन अच्छा किया था और इन्हें भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों का अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होंने ठेठ पूरबी हिंदी गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैया लिखे हैं। फारसी अरबी शब्दों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। सारांश यह कि ये एक विदग्ध और कुशल कवि थे पर कुछ फक्कड़पन लिए हुए। इनकी बहुत सी कविता बाजारू है। नमूने के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें,
लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेर अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

———

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।

अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

——

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में,
ताकी बदजाती बदजाती ह्वाँ उराहना॥
ग्वाल कवि वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ ह्वाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना॥

——

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है।
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे!
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है, न जाना है॥

(५६) प्रतापसाहि—ये रतनेस बंदीजन के पुत्र थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १८८२ में "व्यंग्यार्थकौमुदी" और संवत् १८८६ में "काव्य-विलास" की रचना की। इन दोनों परम प्रसिद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें इनकी बनाई हुई और हैं—

जयसिंह प्रकाश (सं १८५२), शृंगार-मंजरी (सं १८८९), शृंगार-शिरोमणि (सं १८९४) अलंकार चिंतामणि (सं १८९४), काव्य-विनोद (१८९६), रसराज की टीका (सं १८९६), रत्न चंद्रिका (सतसई की टीका सं १८९६) जुगल नखशिख (सीताराम का नखशिख वर्णन) बलभद्र नखशिख की टीका।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं १८८० से १९०० तक ठहरता है। पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का अनुमान हो सकता है। आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाए हुए कार्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा व्यंजना का उदाहरणों द्वारा बिलकुल निरूपण पूर्ववर्ती तीनों कवियों ने नहीं किया था। इन्होंने व्यंजना के उदाहरणों की एक अलग पुस्तक ही "व्यंग्यार्थकौमुदी" के नाम से रची। इसमें कवित्त दोहे सवैये मिलाकर १३० पद्य हैं जो सब व्यंजना या ध्वनि के उदाहरण हैं। साहित्यमर्मज्ञ तो बिना कहे ही समझ सकते हैं कि ये उदाहरण अधिकतर वस्तु-व्यंजना के ही होंगे। वस्तु-व्यंजना को बहुत दूर तक ले जाने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रूढ़ि के अभ्यास पर अवलंबित रहती है। नायिकाओं के भेदों रसादि के सब अंगों तथा भिन्न भिन्न बँधे उपमानों का अभ्यास न रखनेवाले के लिए ऐसे पद्य पहेली ही समझिए। उदाहरण के लिये 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' का यह सवैया लीजिए—

> सीख सिखाई न मानति है बर ही बस संग सखीन के आवै।
> खेलत खेल नए जल में बिना काम वृथा कत जाम बितावै॥
> छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै।
> कौन परी यह बानि अरी नित नीरभरी गगरी ढरकावै॥

सहृदयों की सामान्य दृष्टि में तो स्वभावोक्ति की मधुर क्रीड़ा-वृत्ति का यह एक परम मनोहर दृश्य है। पर इस में उस्ताद लोगों की

आँखें एक और ही ओर पहुँचती हैं। वे इसमें से यह व्यंग्यार्थ निकालते हैं—घड़े के पानी में अपने नेत्रों का प्रतिबिंब देख उसे मछलियों का भ्रम होता है। इस प्रकार का भ्रम एक अलंकार है। अत भ्रम या भ्रांति अलंकार यहाँ व्यंग्य हुआ। और चलिए। 'भ्रम' अलंकार में 'सादृश्य' व्यंग्य रहा करता है अत अब इस व्यंग्यार्थ पर पहुँचे कि "नेत्र मीन के समान हैं"। अब अलंकार का पीछा छोड़िए, नायिकाभेद की तरफ आइए। वैसा भ्रम जैसा ऊपर कहा गया है "अज्ञातयौवना" को हुआ करता है। अत ऊपर का सवैया अज्ञातयौवना का उदाहरण हुआ। यह इतनी बड़ी अर्थ-यात्रा रूढ़ि के ही सहारे हुई है। जब तक यह न ज्ञात हो कि कवि-परंपरा में आँख की उपमा मछली से दिया करते हैं, तब तक यह सब अर्थ स्फुट नहीं हो सकता।

प्रतापसाहिजी का यह कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रसग्रंथ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं जिससे उनके ग्रंथ को जी चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यंत सरस और मधुर ग्रंथ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल में जाती है तो उधर आचार्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर की प्रतिभा के साथ साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुँचाकर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी कभी रुचिकर सीमा के बाहर जा पड़ी है, पर इस भावुक और प्रवीण की वाणी में यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमें न कहीं कृत्रिम आडंबर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दों

चाहौ पल बैठी रहौ, चाहौ उठि जाव तौ न,
हमको हमारी परी, बूझै को तिहारी बात ?

———

चंचल चपला चारु चमकत चारों ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत हैं।
सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन्ह,
सँयोगिन्ह समाज सुखसाज सरसत हैं॥
कहै परताप अति निबिड़ अँधेरी माँह
मारग चलत नाहिं नेकु दरसत है।
झुमड़ि झलानि चहु कोद तें उमड़ि आज
धाराधर धारन अपार बरसत है॥

———

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के॥
कहै परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के।
कहरत कोल, हहरत हैं दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के॥

(५७) रसिक गोविंद—ये निंबार्क संप्रदाय के एक महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे और वृंदावन में रहते थे। हरिव्यासजी की शिष्यपरंपरा में सर्वेश्वरशरण देवजी बड़े भारी भक्त हुए हैं। रसिकगोविंदजी उन्हीं के शिष्य थे। ये जयपुर (राजपुताना) के रहनेवाले और नटाणी जाति के थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, माता का गुमाना, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का बालमुकुंद था। इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८९० तक अर्थात् विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर अंत तक स्थिर होता है। अब तक इनके ९ ग्रंथों का पता चला है—संभवतः और भी होंगे। नौ ग्रंथ ये हैं—

(१) रामायण सूचनिका—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है। यह संवत् १८५८ के पहले की रचना है। इसके ढंग का पता इन दोहों से लग सकता है—

> चकित भूप बानी सुनत गुरु वशिष्ठ समुझाय।
> दिय पुत्र तब रामचंद्र मन मैं भारी चाव॥
> बाण हर मारिच बध्यो, पुनि प्रभु चलो सुभाय।
> मुनि मख पूरन, सुमन सुर बरसत अधिक बढ़ाय॥

(२) रसिक गोविंदानंदघन—यह सात आठ सौ पृष्ठों का बड़ा भारी रीतिग्रंथ है जिसमें रस नायक-नायिकाभेद, अलंकार, गुण-दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। इसे इनका प्रधान ग्रंथ समझना चाहिए। इसका निर्माणकाल वसंत पंचमी संवत् १८५८ है। यह चार प्रबंधों में विभक्त है। इसमें बड़ी भारी विशेषता यह है कि लक्षण गद्य में है और रसों, अलंकारों आदि के स्वरूप गद्य में समझाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों के मतों का उल्लेख भी स्थान स्थान पर है। जैसे, रस का निरूपण इस प्रकार है—

अन्य-ज्ञानरहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित आनंद तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्त्ता को मत—विभाव अनुभाव संचारी भाव के योग तें रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत—कारज कारन सहायक हैं जे लोक में इन ही को नाट्य में, काव्य में, विभाव संज्ञा है। अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्व विशुद्ध अखंड स्वप्रकाश आनंद चित् अन्यज्ञान नहिं संग ब्रह्मास्वाद सहोदर रस'।

इसके आगे अभिनवगुप्ताचार्य का मत कुछ विस्तार से दिया है। सारांश यह कि यह ग्रंथ आचार्यत्व की दृष्टि से लिखा गया है और इसमें संदेह नहीं कि और ग्रंथों की अपेक्षा इसमें विवेचन भी अधिक है और पूरी हुई बातों का समावेश भी। दोषों का वर्णन, जो हिंदी के

लक्षण ग्रंथों में बहुत कम पाया जाता है, इन्होंने काव्यप्रकाश के अनुसार विस्तार से किया है। रसों, अलंकारों आदि के उदाहरण कुछ तो अपने हैं, पर बहुत से दूसरे कवियों के। उदाहरणों के चुनने में इन्होंने बड़ी सहृदयता का परिचय दिया है। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद भी बहुत सुंदर करके रखे हैं। साहित्य-दर्पण के मुग्धा के उदाहरण (दत्ते सालसमंथर इत्यादि) को देखिए हिंदी में ये किस सुंदरता से लाए हैं—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरति पाय,
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिनछिन प्रति लाज मान,
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय कै॥
बोलति बचन मृदु मधुर बनाय, उर
अंतर के भाव की गँभीरता जनाय कै॥
बात सखी सुंदर गोविंद की कहात तिन्हें
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

(३) लछिमन चंद्रिका—'रसिकगोविंदानंदघन' में आए लक्षणों का संक्षिप्त संग्रह जो संवत् १८८६ में लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध से कवि ने किया था।

(४) अष्टदेशभाषा—इसमें ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों में राधा-कृष्ण की शृंगारलीला कही गई है।

(५) पिंगल।

(६) समयप्रबंध—राधाकृष्ण की ऋतुचर्य्या ८५ पद्यों में वर्णित है।

(७) कलिजुग रासो—इसमें १६ कवित्तों में कलिकाल की बुराइयों का वर्णन है। प्रत्येक कवित्त के अंत में "कीजिए सहाय जू कृपाल श्री गोविंदराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है" यह पद आता है। निर्माणकाल संवत् १८६५ है।

(८) रसिक गोविंद—चंद्रालोक या भाषाभूषण के ढंग की अलंकार की एक छोटी पुस्तक जिसमें लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में हैं। रचनाकाल संवत् १८९ है।

(९) युगलरस माधुरी—रोला छंद में राधाकृष्णविहार और वृंदावन का बहुत ही सरस और मधुर भाषा में वर्णन है जिससे इनकी सहृदयता और निपुणता पूरी पूरी टपकती है। कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—

> मुकुलित पल्लव फूल सुगंध परागहि झारत।
> जुग मुख निरखि बिपिन जनु राखें दीप उजारत॥
> फूल फलन के भार डार झुकि यों छबि छाजैं।
> मनु पसारि कर भुजा देन फल पथिकन काजैं॥
> मधु मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मत्त मन।
> बिरद पढ़त ऋतुराज नृपति के मनु बंदीजन॥

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का, जिन्होंने लक्षणग्रंथ के रूप में रचनाएँ की हैं, संक्षेप में वर्णन हो चुका है। अब यहाँ पर इस काल के भीतर होनेवाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति ग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबंध-काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति-ज्ञान संबंधी पद्य और कुछ ने शृंगार-रस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं। ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगाररस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बंधन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

प्रबंध काव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथा-प्रबंध गए पर उनमें से दो ही चार में कवित्व का

[illegible] पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छत्रसिंह की विजयमुक्तावली, गुरु गोविंदसिंहजी का चंडीचरित्र, लाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीररासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनि पुराण, सूदन का सुजानचरित, देवीदत्त की बैतालपचीसी, हरनारायण की माधवानल कामकंदला, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत, नवलसिंहकृत भाषा सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हाभारत, मूलढोला तथा चंद्रशेखर का हम्मीरहठ, श्रीधर का जंगनामा, पद्माकर का रामरसायन ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं। इनमें से चंद्रशेखर के हम्मीरहठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश, जोधराज के हम्मीररासो, सूदन के सुजानचरित और गोकुलनाथ आदि के महाभारत में ही काव्योपयुक्त रसात्मकता भिन्न भिन्न परिमाण में पाई जाती है। 'हम्मीररासो' की रचना बहुत ही प्रशस्त है। 'रामाश्वमेध' की रचना भी साहित्यिक है। 'ब्रजविलास' में यद्यपि काव्य के गुण अल्प हैं पर उसका थोड़ा बहुत प्रचार पढ़े लिखे कृष्णभक्तों में है।

कथात्मक प्रबंधों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मंगलवर्णन, रामकलेवा इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। बड़े बड़े प्रबंधकाव्यों के भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं। काव्य-पद्धति में जैसे शृंगाररस के क्षेत्र से 'नख-शिख' 'षट्ऋतु' आदि लेकर स्वतंत्र पुस्तकें बनने लगी थीं वैसे ही कथात्मक महाकाव्यों के ये अंग भी निकालकर अलग पुस्तकें लिखी गईं। इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है कभी कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कविजी अपने वस्तु-परिचय का भंडार

खोलते हैं—जैसे, बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ों जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसों प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों के नाम—यहाँ तो अच्छे अच्छे धीरों का धैर्य छूट जाता है।

चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहनेवालों का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी संबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करनेवालों को हम 'कवि' न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे। रीतिकाल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं।

पाँचवाँ वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ये कभी कभी समझाने के लिये उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिये ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं। इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नहीं। ऐसे ग्रंथकारों को हम केवल 'पद्यकार' कहेंगे। हाँ, इनमें जो भावुक और प्रतिभा संपन्न हैं, जो अन्योक्तियों आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य कवि क्या, उच्च कोटि के कवि, कहे जा सकते हैं।

छठा वर्ग कुछ भक्त कवियों का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढँग पर गाए हैं।

इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ

ऐसी बहुत तो रसग्रंथों के आदि में मिलती हैं, कुछ अलंकार ग्रंथों के उदाहरण रूप (जैसे शिवराजभूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे "शिवा-बावनी" "छत्रसाल-दशक" "हिम्मतबहादुर-विरुदावली" इत्यादि। ऐसी पुस्तकों में सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देवकाव्य के रूप में हुई हैं अथवा जिनके नायक कोई देश प्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन रहे हैं—जैसे शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप आदि। जो पुस्तकें यों ही खुशामद के लिये आश्रित कवियों की रूढ़ि के अनुसार लिखी गईं, जिनके नायकों के लिये जनता के हृदय में कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। बहुत सी तो लुप्त हो गईं। उनकी रचना में सच पूछिए तो कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियों को अर्थ-सिद्धि भर प्राप्त हुई, यश का लाभ न हुआ। यदि बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा में ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होतीं। संस्कृत और हिंदी के न जाने कितने कवियों का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्यक्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा बहुत गद्य इधर उधर दिखाई पड़ जाता है पर अधिकतर कच्चे रूप में। गोस्वामियों की लिखी वैष्णव-वार्ताओं के समान कुछ पुस्तकों में ही पुष्ट ब्रजभाषा मिलती है। रही खड़ी बोली। वह पहले कुछ दिनों तक तो मुसलमानों के व्यवहार की भाषा समझी जाती रही। मुसलमानों के प्रसंग में उसका कभी कभी प्रयोग कवि लोग कर देते थे, जैसे—अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा (भूषण)। पर पीछे दिल्ली राजधानी होने से रीतिकाल के भीतर ही खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो गई थी और उसमें अच्छे गद्य ग्रंथ लिखे जाने लगे थे। संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने

'योगवासिष्ठ भाषा' बहुत ही परिमार्जित गद्य में लिखा*। (विशेष दे० आधुनिक काव्य)।

इसी रीतिकाल के भीतर रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक (आनंदरघुनंदन) लिखा। इसके उपरांत गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न-विजय' नामक एक पद्यबद्ध नाटक लिखा जिसमें पात्र प्रवेश, विष्कंभक, प्रवेशक आदि रहने पर भी इतिवृत्तात्मक पद्य रखे जाने के कारण नाटक का प्रकृत स्वरूप न दिखाई पड़ा।

(१) बनवारी—ये संवत् १६९० और १७०० के बीच वर्तमान थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार में सलावतखाँ ने किसी बात पर अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिस पर उन्होंने चट तलवार खींचकर सलावतखाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन इनके इन पद्यों में मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान॥
उत गकार मुख ते कढ़ी इतै कढ़ी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार॥

आनि कै सलावत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर पंजर करेजे जाय करकी।
दिलीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की॥
कहै बनवारी बादसाही के तखत पास
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों भरकी।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ़ की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की॥

---

* देखो पृ० ४४६-४७।

बनवारी कवि की शृंगाररस की कविता भी बड़ी चमत्कारपूर्ण होती थी। यमक लाने का ध्यान इन्हें विशेष रहा करता था। एक उदाहरण लीजिए—

> मेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि
>
> यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे।
>
> साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
>
> देखिबे की लालसा री, लाल देखे सुख पावैंगे॥
>
> तू ही उर बसी, उर बसी नाहिं और तिय
>
> कोटि बरसानी तजि तोही चित लावैंगे।
>
> हमैं बनवारी बनवारी तन आभरन,
>
> गोरे तन वारी बनवारी आजु पावैंगे॥

(२) सबल सिंह चौहान—इनके निवासस्थान का ठीक निश्चय नहीं। शिवसिंहजी ने यह लिखकर कि कोई इन्हें चंदागढ़ का राजा और कोई सबलगढ़ का राजा बतलाते हैं यह अनुमान किया है कि ये इटावे के किसी गाँव के जमींदार थे। शिवसिंहजी ने औरंगजेब के दरबार में रहनेवाले किसी राजा मित्रसेन के साथ इनका संबंध बताया है। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहों चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसे इन्होंने संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच पूरा किया। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद 'रूपविलास' और एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा था पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए। ये वास्तव में अपने महाभारत के लिये ही प्रसिद्ध हैं। उसमें यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नहीं है पर सीधी-सादी भाषा में कथा अच्छी तरह कही गई है। रचना का ढंग नीचे के अवतरण से विदित होगा।

> अभिमनु धाइ खड्ग परहारे। सम्मुख जेहि पायो तेहि मारे॥
>
> भूरिस्रव बान दस छाँड़े। कुँवर हाथ के तरवारि खाँड़े॥

तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अश्व सँहारे॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु बीर चित्त अनुमाना॥
यहि अंतर सेना सब धाई। मारु मारु कै मारन आई॥
रथ को खैंचि कुँवर कर लीन्हें। ताते मार भयानक कीन्हे॥
अभिमनु कोपि खंभ परहारे। इक इक घाव बीर सब मारे॥
अर्जुनसुत इमि मार किय महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हे दंड॥

---

(३) वृंद—ये मेड़ता (जोधपुर) के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये शायद कृष्णगढ़ नरेश के साथ औरंगजेब की फौज में ढाके तक गए थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ में वर्त्तमान हैं। इनकी "वृंदसतसई" (संवत् १७६१), जिसमें नीति के सात सौ दोहे हैं, बहुत प्रसिद्ध है। खोज में 'शृंगारशिक्षा' (सं० १७४८) और 'भावपंचाशिका' नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें और मिली हैं पर इनकी ख्याति अधिकतर सूक्ति-कार के रूप में ही है। वृंदसतसई के कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माहिं॥
हितहू की कहिए न तेहि जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाए क्रोध॥

(४) छत्रसिंह कायस्थ—ये बटेश्वर क्षेत्र के अटेर नामक गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके आश्रय-दाता अमरावती के कोई कल्याणसिंह थे। इन्होंने 'विजयमुक्तावली' नाम की पुस्तक संवत् १७५७ में लिखी जिसमें महाभारत की कथा एक स्वतंत्र प्रबंध-काव्य के रूप में कई छंदों में वर्णित है। पुस्तक में काव्य के गुण यथेष्ट परिमाण में हैं और कहीं कहीं की कविता बड़ी ही ओजस्विनी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

निरखत ही अभिमन्यु के विदुर डुलायो सीस।
रच्छा बालक की करौ, ह्वै कृपाल जगदीस॥
आपुन धाँसो युद्ध महँ धनुष लियो गुन धारि।
पाछे पैठे भीम सब, धृष्टद्युम्न दल भारि॥
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]
मारत रनहि प्रचंड ह्वै ज्यों दौं तृन आगि॥

[illegible] कुंडल दर लीन्हे [illegible] कुंती [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible]॥

(५) बैताल—ये जाति के बंदीजन थे और राजा विक्रमसाहि की सभा में रहते थे। यदि ये विक्रमसाहि चरखारीवाले प्रसिद्ध विक्रमसाहि हों जिन्होंने 'विक्रम सतसई' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं और जो खुमान, प्रताप आदि कई कवियों के आश्रयदाता थे तो बैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के बीच मानना पड़ेगा। पर शिवसिंहसरोज में इनका जन्मकाल सं० १७३४ लिखा हुआ है। बैताल ने गिरिधरराय के समान नीति की कुंडलियों की रचना की है और प्रत्येक कुंडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। इन्होंने लौकिक व्यवहार-संबंधी अनेक विषयों पर सीधे सादे पर जोरदार पद्य कहे हैं। गिरिधरराय के समान इन्होंने भी वाक्चातुर्य्य या उपमा रूपक आदि लाने का प्रयत्न नहीं किया है। बिलकुल सीधी सादी बात ज्यों की त्यों छंदोबद्ध कर दी गई है। फिर भी कथन के ढंग में अनूठापन है। एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥
बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जो कुल में दाग लगावै॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए॥

(६) आलम—ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम में फँसकर पीछे से मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। ये औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अत आलम का कविताकाल संवत् १७४० से संवत् १७६० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से निकला है। इस पुस्तक में आए पद्यों के अतिरिक्त इनके और बहुत से सुंदर और उत्कृष्ट पद्य ग्रंथों में संगृहीत मिलते हैं और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं।

(शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी)। आलम के साथ प्रेम होने की विचित्र कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगड़ी रँगने को दी जिसकी खूँट में भूल से कागज का चिट बँधा चला गया। उस चिट में दोहे की यह आधी पंक्ति लिखी थी "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहा इस तरह पूरा करके "कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन", उस चिट को फिर ज्यों का त्यों पगड़ी की खूँट में बाँधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के पूरे प्रेमी हो गए और अंत में उसके साथ विवाह कर लिया। शेख बहुत ही चतुर और हाज़िरजवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्जम ने हँसी से शेख से पूछा—"क्या आलम की औरत आप ही हैं?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँपनाह! जहान की माँ मैं ही हूँ।" "आलमकेलि" में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों में भी बहुत सी रचना शेख की मानी जाती है। जैसे, नीचे लिखे कवित्त में चौथा चरण शेख का बनाया कहा जाता है—

प्रेमरंग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।

कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे
कैधौं बगपाँति उन अतगति ह्वै गई?
आलम कहै हो आली! अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीत विपरीत विधि ने ठई?
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई? ॥

——

रात के उनीदे, अरसाते, मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं ॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले, कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं?

——

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
याँ गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोज ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है ॥
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दिवाना है ॥

(७) **गुरु गोविंदसिंहजी**—ये सिखों के महापराक्रमी दसवें या अंतिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ में और सत्यलोक-वास संवत् १७६५ में हुआ। यद्यपि सब गुरुओं ने थोड़े बहुत पद भजन आदि बनाए हैं पर ये महाराज काव्य के अच्छे ज्ञाता और ग्रंथकार थे। सिखों में शास्त्रज्ञान का अभाव इन्हें बहुत खटका था और

इन्होंने बहुत से सिक्खों को व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये काशी भेजा था।—ये हिंदू धर्म और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिये बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा में इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिक्ख-संप्रदाय में निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देवकथाओं की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है। यह प्रसिद्ध है कि ये शक्ति के आराधक थे। इनके इस पूर्ण हिंदू-भाव को देखते यह बात समझ में नहीं आती कि वर्तमान समय में सिक्खों की एक शाखा-विशेष के भीतर पैगंबरी मजहबों का अनुसरण कहाँ से और किसकी प्रेरणा से आ गया है।

इन्होंने हिंदी में कई अच्छे और साहित्यिक ग्रंथों की रचना की है जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर और चंडीचरित्र। चंडीचरित्र की रचनापद्धति बड़ी ही ओजस्विनी है। ये प्रौढ़ साहित्यिक व्रजभाषा लिखते हैं। चंडीचरित्र में दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी सुंदर कविता में कही गई है। इनकी रचना के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> निर्जर निरूप हौ, कि सुंदर स्वरूप हौ,
> कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ?
> प्रान के बचैया दूध पूत के देवैया,
> रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ?
> विद्या के विचार हौ, कि अद्वै अवतार हौ
> कि शुद्धता की मूर्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ?
> जोबन के जाल हौ कि काल हू के काल हौ,
> कि सत्रुन के सूल हौ कि मित्रन के प्रान हौ?

(८) श्रीधर या मुरलीधर—ये प्रयाग के रहनेवाले थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और बहुत सी फुटकल कविता बनाई है। संगीत की पुस्तक नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के फुटकल

पद्य, चित्रकाव्य इत्यादि के अतिरिक्त इन्होंने 'जगनामा' नामक एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रंथ काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस छोटी सी पुस्तक में सेना की चढ़ाई, साज सामान आदि का कवित्त-सवैयों में अच्छा वर्णन है। इनका कविता-काल सं० १७६७ के आसपास माना जा सकता है। 'जगनामा' का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

इत गलगाजि चढ्यो फर्रुखसियर साह,
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सों, बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि उठी धरती॥
श्रीधर नवाब फरजंदखाँ सुजंग जुरे,
जोगिनी अघाईं जुग जुगन की भरती।
हहरयो हरौल, भीर गोल पै परी ही, तून
करतो हरोली तौ हरौले मीर परती॥

(६) लाल कवि—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था और ये मऊ (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे। इन्होंने प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनका जीवनचरित दोहों चौपाइयों में बड़े ब्योरे के साथ वर्णन किया है। इस पुस्तक में छत्रसाल का संवत् १७६४ तक का ही वृत्तांत आया है, इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रंथ अधूरा ही मिला है अथवा लाल कवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व ही हो गया था। जो कुछ हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्रप्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमें सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक ठीक दिए गए हैं। इसमें वर्णित घटनाएँ और संवत् आदि ऐतिहासिक खोज के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं, यहाँ तक कि जिस युद्ध में छत्रसाल को भागना पड़ा है उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

ग्रंथ की रचना प्रौढ़ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। लाल कवि में प्रबंधपटुता पूरी थी। संबंध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिये मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। वस्तु-परिगणन द्वारा वर्णनों का अरुचिकर विस्तार बहुत ही कम मिलता है। सारांश यह कि लाल कवि का सा प्रबंध-कौशल हिंदी के कुछ इने गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्दवैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी है। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। शिवाजी का जो वीरव्रत था वही छत्रसाल का भी था। छत्रसाल का जो भक्ति-भाव शिवाजी पर कवि ने दिखाया है तथा दोनों के सम्मिलन का जो दृश्य खींचा है दोनों इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं।

"छत्रप्रकाश" में लाल कवि ने बुंदेल वंश की उत्पत्ति, चंपतराय के विजय वृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मोगलों के हाथ में जाना, छत्रसाल का थोड़ी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मोगलों का नाकों दम करना इत्यादि बातों का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढंग का अनूठा है। लाल कवि का एक और ग्रंथ 'विष्णुविलास' है जिसमें बरवै छंद में नायिकाभेद कहा गया है। पर इस कवि की कीर्ति का स्तंभ 'छत्रप्रकाश' ही है।

'छत्रप्रकाश' से नीचे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं।

(छत्रसाल महत्त्व)

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥

सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै॥
रुचि सो लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥

नैाकि चैाकि सब दिसि उठै सूबा खान खुमान।
अब धैा धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥

(युद्ध-वर्णन)

छत्रसाल हाडा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरनहारो॥
दैारि देस मुगलन के मारो। दपटि दिली के दल संहारो॥
एक आन सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरे।

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सो, बाँटि धरनि धरि लेहु॥

चहुँ ओर सो सूबनि घेरो। दिसनि अलातचक्र सो फेरो॥
पजरे सहर साहि के बाँके। धूम धूम में दिनकर ढाँके॥
कबहूँ प्रगटि युद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि तल ढाँकै॥
बानन बरखि गयदनि फोरै। तुरकनि तमक तेग तर तोरै॥
कबहूँ उमगि अचानक आवै। घन सम घुमड़ि लोह बरसावै॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चापि चँदालनि लूटै॥
कबहूँ देस दैारि के लावै। रसद कहूँ की कढ़न न पावै॥

(१०) घन आनंद—ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभों में हैं। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये संवत् १७९६ में नादिरशाही में मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह

इनके गाने पर जितना खुश हुआ उतना ही बेअदबी पर नाराज। उसने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क-संप्रदाय के वैष्णव हो गए और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे। वृंदावन-भूमि का प्रेम इनके इस कवित्त से झलकता है—

> गुरनि बतायो राधा मोहन हू गायो,
> सदा सुखद सुहायो वृंदावन गाढ़े गहि रे।
> अद्भुत अभूत महिमंडन, परे तें परे
> जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
> आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही,
> सरस सुदेय सों पपीहापन बहि रे।
> जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
> पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

संवत् १७९६ में जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है; उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और 'जर जर जर' (अर्थात् धन धन धन, लाओ) चिल्लाने लगे। घनानंदजी ने शब्द को उलटकर 'रज' 'रज' 'रज' कहकर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। कहते हैं कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

> बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
> खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
> कहि कहि आवन छबीले मन-भावन को
> गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥

झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घन-आनदजी के इतने ग्रंथों का पता लगता है—सुजान-सागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकाड। इसके अतिरिक्त इनके कवित्त सवैयों के फुटकल संग्रह डेढ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्णभक्ति-सबधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रथ छत्रपुर के राज पुस्तकालय में है जिसमें प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगवेली, कृपाकंद निबध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धाम चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रस-वसत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी 'विरहलीला' व्रजभाषा में पर फारसी के छुद में है।

इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी व्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलभ शृगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग-शृगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। "प्रेम की पीर" ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा ज़बाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। अतः इनके सबध में निम्नलिखित उक्ति बहुत ही सगत है—

नेही महा, व्रजभाषा प्रवीन औ सुदरताहु के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै॥
चाह के रग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
भाषा प्रवीन, सुछद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को सबोधन किया है जो शृगार में नायक के लिये और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान् के लिये प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान'

का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानंद विरक्त भक्त के रूप में वृंदावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आएगी शृंगार की ही कही जायगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए। कविता इनकी भावपक्षप्रधान है। कोरे विभावपक्ष का चित्रण इनमें कम मिलता है। जहाँ रूपछटा का वर्णन इन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का ही वर्णन मुख्य है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अंतर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहने के कारण बाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है। होली के उत्सव, मार्ग में नायक-नायिका की भेंट उनकी रमणीय चेष्टा आदि के वर्णन के रूप में ही वह पाई जाती है। संयोग का भी कहीं कहीं बाह्य वर्णन मिलता है पर उसमें भी प्रधानता बाहरी व्यापारों व चेष्टाओं की नहीं है, हृदय के उल्लास और लीनता की ही है।

प्रेमदशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिंदी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं। इस दशा का पहला स्वरूप है हृदय या प्रेम का आधिपत्य और बुद्धि का अधीन पद जैसा कि घनानंद ने कहा है—

"रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।"

प्रेमियों की मनोवृत्ति इस प्रकार की होती है कि वे प्रिय की कोई साधारण चेष्टा भी देखकर उसका अपनी ओर झुकाव मान लिया करते हैं और फूले फिरते हैं। इसका कैसा सुंदर आभास कवि ने नायिका के इस वचन द्वारा दिया है जो मन को संबोधन करके कहा गया है—

"चाहि कै मैं रावरी चाह चहै है चकोरन,
रोम कहा रहै, रह। मानि कीजै मैं सौं"।

कवियों की इसी प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध मनस्वी लेखक ने कहा है कि भावों या मनोविकारों के स्वरूप-परिचय के लिये

कवियों की वाणी का अनुशीलन जितना उपयोगी है उतना मनो-विज्ञानियों के निरूपण नहीं।

प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास घनानद ने विरोधाभासों के द्वारा दिया है। उनके विरोध-मूलक-वैचित्र्य की प्रवृत्ति का कारण यही समझना चाहिए।

यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अतर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसी से इनके वियोग सबंधी पद्य ही प्रसिद्ध हैं। वियोग-वर्णन भी अधिकतर अतर्वृत्ति-निरूपक है, बाह्यार्थ निरूपक नहीं। घनानद ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को बाहरी मान से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—बाहर से वह वियोग प्रशांत और गभीर है, न उसमें करवटें बद-लना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी "मौन मधि पुकार" है।

यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभगी के साथ साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गति-विधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटा कर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर इन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है। घनानंदजी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यजकता बढाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रग की व्यजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिंदी के पुराने कवियों में

हौ तौ जानराय, जाने जाहु न, अजान यातें,
आनँद के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा! सूरति दिखैए नेकु,
हमैं खोय या बिधि हो! कौन धौ लहा लहौ॥

मूरति सिँगार की उजारी छवि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद पाँवड़े पुनीतकारी पाय,
चूमि चूमि कै कपोलनि सो माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग-अंग रुचि-रंगनि में,
बोरि सब अंगन अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घन आनँद ढरौही बानि देखें,
सुधा-हेत मन घट दरकनि सुठि राँजिहौं॥
(राँजना = फूटे बरतन में जोड़ या टाँका लगाना)

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रंग भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यो चख ढोरि रहै, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बट प्रान गए गति सो मति में अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यो जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की॥

इस अंतिम सवैये के प्रथम तीन चरणों में कवि ने बहुत सूक्ष्म कौशल दिखाया है। 'मुरि चाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह व्यक्त किया गया है कि एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़कर देखा फिर देखकर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा। देख कर जब वे मुड़े तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पड़ा जैसे पानी नाली में ढल जाता है। कटि में बल देकर प्यारे नायिका के मन में डूबने के ढब से निकल गए।

घनानंद के ये दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सुंदरता सरसौ॥

घनआनँद जीवनदायक हौ, कछू मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौं लै बरसौ।

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

('विरहलीला' से)

सलोने स्याम प्यारे क्यों न आवौ। दरस प्यासी मरैं तिनकौं जिवावौ॥
कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू, कहाँ हौ। लगे ये प्रान तुमसों हैं जहाँ हौ॥
रहौ किन प्रान प्यारे नैन आगे। तिहारे कारनै दिनरात जागे॥
सजन ! हित मान कै ऐसी न कीजै। भई हैं बावरी सुध आय लीजै॥

(११) रसनिधि—इनका नाम पृथ्वीसिंह था और ये दतिया के एक जमींदार थे। इनका संवत् १७१७ तक वर्तमान रहना पाया जाता है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने बिहारी-सतसई के अनुकरण पर 'रतनहजारा' नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। कहीं कहीं तो इन्होंने बिहारी के वाक्य-तक रख लिए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी बहुत से दोहे बनाए जिनका संग्रह बाबू जगन्नाथप्रसाद (छतरपुर) ने किया है। 'अरिल्ल और माँझें' का संग्रह भी खोज में मिला है। ये शृंगार-रस के कवि थे। अपने दोहों में इन्होंने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। फारसी की आशिकी कविता के शब्द भी इन्होंने इस परिमाण में कहीं कहीं रखे हैं कि सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात पहुँचता है। पर जिस ढंग की कविता इन्होंने की है उसमें इन्हें सफलता हुई है। कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

अद्भुत गति यहि प्रेम की, बैनन कही न जाय।
दरस भूख लागै दृगन, भूखहि देत भगाय॥

लेहु न मजनू-गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।
दरदवत को नेकु तौ, लेन देहु बिसराम॥

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन जाय॥
मनगयद छविमद छके तोरि जँजीर भगात।
हिय के झीने तार सो सहजै ही बँधि जात॥

(१२) महाराज विश्वनाथसिंह—ये रीवाँ के बड़े ही विद्या-रसिक और भक्त नरेश तथा प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह के पिता थे। आप सवत् १७७८ से लेकर १७९७ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। ये जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी तथा कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। काव्य-रचना में भी ये सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रथ दूसरे कवियों के रचे हैं पर इनकी रचनाएँ भी कम नहीं हैं। नीचे इनकी बनाई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं जिनसे विदित होगा कि कितने विषयों पर इन्होंने लिखा है—

(१) अष्टयाम-आह्निक, (२) आनद-रघुनदन नाटक, (३) उत्तम-काव्य-प्रकाश, (४) गीता-रघुनदन शतिका, (५) रामायण, (६) गीता-रघुनदन प्रामाणिक, (७) सर्वसग्रह, (८) कबीर बीजक की टीका, (९) विनयपत्रिका की टीका, (१०) रामचंद्र की सवारी, (११) भजन, (१२) पदार्थ, (१३) धनुर्विद्या, (१४) आनद-रामायण, (१५) परधर्म-निर्णय, (१६) शाति-शतक, (१७) वेदांत-पचक शतिका, (१८) गीता-वली पूर्वार्द्ध, (१९) ध्रुवाष्टक, (२०) उत्तम-नीतिचद्रिका, (२१) अबोधनीति, (२२) पाखड-खडिनी, (२३) आदिमगल, (२४) बसंत-चौंतीसी, (२५) चौरासी रमैनी, (२६) ककहरा, (२७) शब्द, (२८) विश्वभोजन-प्रसाद, (२९) ध्यानमजरी, (३०) विश्वनाथ-प्रकाश, (३१) परमतत्त्व, (३२) सगीत-रघुनदन इत्यादि।

यद्यपि ये रामोपासक थे पर कुलपरपरा के अनुसार निर्गुण सत मत की बानी का भी आदर करते थे। कबीरदास के शिष्य धर्मदास

उठो कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥
जगवन महँ निकस्यो हरपित हिय बिचरन हेत दिवस मनियारो।
बिश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥

——

करि जो कर में कयलास लियो कसिकै अब नाक सिकोरत है।
दस तालन बीस भुजा भहराय झुको धनु को भकभोरत है।
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीसि कै दाँतन तोरत है।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेस न मोरत है॥

(१३) भक्तवर नागरीदासजी—यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि ब्रज में हो गए पर उनमें सबसे प्रसिद्ध कृष्णगढ-नरेश महाराज सावतसिंहजी हैं जिनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शूरवीर थे। १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। संवत् १८०४ में ये दिल्ली के शाही दरबार में थे। इसी बीच में इनके पिता महाराज राजसिंह का देहांत हुआ। बादशाह अहमदशाह ने इन्हें दिल्ली में ही कृष्णगढ राज्य का उत्तराधिकार दिया। पर जब ये कृष्णगढ पहुँचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुरसिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये ब्रज की ओर लौट आए और मरहठों से सहायता लेकर इन्होंने अपने राज्य पर अधिकार किया। पर इस गृहकलह से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़-छाड़कर वृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरिभक्ति को सकल सुखन को सार॥

जे मनमें अब मूढ़ तें करत राज की काज।
वृंदावन की ओर तें मति कहुँ फिरि जाय॥

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो 'कृष्णगढ़ के राजा' यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥
इक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और ठौर॥

वृंदावन में उस समय वल्लभाचार्यजी की गद्दी की पाँचवीं पीढ़ी थी। वृंदावन से इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब यमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हें इतना असह्य हो गया कि ये यमुना में कूद पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यौ श्रीवृंदाविपिन पार। बिच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नाहिं कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे वार लगन की लगी लाव। मन पारहि पूरे चाव चाव॥
यह चित्त माहिं करि कै बिचार। परे कूदि कूदि जलमध्य धार॥

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी "बनीठनीजी" भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं।

ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविता-काल सं० १७ से १८१९ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ "मनोरथ-मंजरी" संवत् १७८ में पूरा हुआ। इन्होंने संवत् १८१४ में आश्विन शुक्ल १ को राज्य पर अपने पुत्र सरदार सिंहजी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहले ही ये कृष्ण-भक्ति और ब्रजलीला-संबंधिनी बहुत

सी पुस्तकें लिख चुके थे। कृष्णगढ में इनकी लिखी छोटी बडी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें सगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश (स० १८००), पदप्रसगमाला, ब्रज-वैकुठ तुला, ब्रजसार (स० १७९९), भोरलीला, प्रातरस मजरी, विहार-चद्रिका (स० १७८८), भोजनानदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूलविलास, गोधन-आगमन दोहन, आनदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीवैनविलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीत-सार, इश्कचमन, मजलिस मडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्द्धन-धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका (स० १८०२), तीर्थानंद (१८१०), फाग विहार (१८०८), बालविनोद, बन-विनोद (१८०९), सुजानानद (१८१०), भक्तिसार (१७९९), देहदशा, वैराग्य-वल्ली, रसिक रत्नावली (१७८१), कलि वैराग्य वल्लरी (१७९५), अरिल्ल-पचीसी, छूटक-विधि, पारायण-विधि-प्रकाश (१७९९), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मजरी (१७८०), रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगल भक्ति विनोद (१८०८), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल बीनन सवाद, वसत-वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग-खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुज-विलास (१७९४), गोविंद परचई, वनजन-प्रशसा, छूटक दोहा, उत्सव-माला, पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैनविलास" और "गुप्तरस-प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न भिन्न प्रसगों या विषयों के कुछ पद्यों में वर्णन मात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जायँगे।

मैं अपने मन मूढ़ तें डरत रहत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिरि जाय॥

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो "कृष्णगढ़ के राजा" यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥
इक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और ठौर॥

वृंदावन में उस समय वल्लभाचार्यजी की गद्दी की पाँचवीं पीढ़ी थी। वृंदावन से इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब यमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हें इतना असह्य हो गया कि ये यमुना में कूद पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यौ श्रीवृंदाविपिन पार। बिच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नाहिं कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे पार लगन की लगी लाय। मन पावरो पूरे लगन भाय॥
यह चित माहिं करि कै विचार। परे कूदि कूदि जलधार-धार॥

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी "बणीठणीजी" भी रहती थीं जो कविता भी करती थीं।

ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१९ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ 'मनोरथ-मंजरी' संवत् १७८० में पूरा हुआ। इन्होंने संवत् १८१४ में आश्विन शुक्ल १ को राज्य पर अपने पुत्र सरदार सिंहजी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहले ही ये कृष्ण-भक्ति और व्रजलीला-संबंधिनी बहुत

सी पुस्तकें लिख चुके थे। कृष्णगढ़ में इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें संगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश (सं० १८००), पदप्रसंगमाला, ब्रज-वैकुंठ तुला, ब्रजसार (सं० १७९९), भोरलीला, प्रातरस मंजरी, विहार-चंद्रिका (सं० १७८८), भोजनानंदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूलविलास, गोधन-आगमन दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीवैनविलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीत-सार, इश्कचमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्द्धन-धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका (सं० १८०२), तीर्थानंद (१८१०), फाग विहार (१८०८), बालविनोद, बन-विनोद (१८०९), सुजानानंद (१८१०), भक्तिसार (१७९९), देहदशा, वैराग्य-वल्ली, रसिक रत्नावली (१७८१), कलि वैराग्य वल्लरी (१७९५), अरिल्ल-पचीसी, छूटक-विधि, पारायण-विधि-प्रकाश (१७९९), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मंजरी (१७८०), रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगल भक्ति विनोद (१८०८), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल बीनन संवाद, बसंत-वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज-विलास (१७९४), गोविंद परचई, वनजन-प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सव-माला, पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैनविलास" और "गुप्तरस-प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न भिन्न प्रसंगों या विषयों के कुछ पद्यों में वर्णन मात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जायँगे।

अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तकों के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतों में पाँच पाँच दस दस, पचीस पचीस पद्य मात्र समझिए। कृष्णभक्त कवियों की अधिकतर रचनाएँ इसी ढंग की हैं। भक्तिकाल के इतने अधिक कवियों की कृष्णलीला-संबंधिनी फुटकल उक्तियों से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखनेवाले पाठकों को नागरीदासजी की ये रचनाएँ अधिकांश में पिष्टपेषण सी प्रतीत होंगी। पर ये भक्त थे और साहित्य रचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विचित्रता है। कहीं कहीं बड़े सुंदर भावों की व्यंजना इन्होंने की है। काल गति के अनुसार फारसी काव्य की आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग भी कहीं कहीं इन्होंने दिखाया है। इन्होंने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त सवैया अरिल्ल रोला आदि कई छंदों का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है विशेषतः पदों की। कवित्तों की भाषा में वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने नीचे देखिए—

(वैराग्य-सागर से)

काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरानन के,
तै ही कहा ? तेरी मूढ़ मूढ़ मति पंग की।
वेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥
और सिद्धि सोधे अब नागर न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही वार्ता सुढंग की।
जाइ ब्रज भोरे ! कोरे मन को रँगाइ लै रे,
वृंदावन रेनु रची गौर स्याम रंग की॥

——

अरिल्ल)

अगर कुटिल कस्तार करै अभिलाष सों।
जिन के सुख नहि रही संत सनमान सौं॥

उनकी सगति भूलि न कबहूं जाइए।
ब्रज नागर नँदलाल सु निसि दिन गाइए॥

(पद)

जो मेरे तन होते दोय
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जो तन हरि विमुखन के सँग रहतो देस विदेस।
विविध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस॥
एक जो तन सतसग रग रँगि रहतो अति सुख पूर।
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रज-जीवन-मूर।
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु तो छिन छिन छीजै॥
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै?

(मनोरथ-मजरी से)

चरन छिदत काँटेनि तें स्रवत रुधिर सुधि नाहिं।
पूछति हौं फिरि हौं भटू खग मृग तरु बन माहिं॥
कबै झुकत मो ओर को ऐहैं मदगज चाल।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँदलाल॥

(इश्क चमन से)

सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद।
अरे! इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद॥
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में और भरैं सब पेट॥

(वर्षा के कवित्त से)

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मद फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

(१४) जोधराज—ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने नींबगढ़ (वर्तमान नीमराणा—अलवर) के राजा चंद्रभान चौहान के अनुरोध से "हम्मीर रासो" नामक एक बड़ा प्रबंध काव्य संवत् १८७५ में लिखा जिसमें रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव का चरित्र वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति पर वर्णन किया गया है। हम्मीरदेव सम्राट् पृथ्वीराज के वंशज थे। इन्होंने दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को कई बार परास्त किया था और अंत में अलाउद्दीन की चढ़ाई में ही वे मारे गए थे। इस दृष्टि से इस काव्य के नायक देश के प्रसिद्ध वीरों में हैं। जोधराज ने चंद आदि प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का भी जगह जगह अनुकरण किया है—जैसे जगह जगह 'हि' विभक्ति के प्राचीन रूप 'ह' का प्रयोग। 'हम्मीररासो' की कविता बड़ी ओजस्विनी है। घटनाओं का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार के साथ हुआ है। काव्य का स्वरूप देने के लिये कवि ने कुछ घटनाओं की कल्पना भी की है। जैसे महिमा मंगोल का अपनी प्रेयसी वेश्या के साथ दिल्ली से भागकर हम्मीरदेव की शरण में आना और अलाउद्दीन का दोनों को माँगना। यह कल्पना राजनीतिक उद्देश्य हटाकर प्रेम-प्रसंग को युद्ध का कारण बताने के लिये, प्राचीन कवियों की प्रथा के अनुसार, की गई है। पीछे संवत् १९०२ में चंद्रशेखर वाजपेयी ने जो हम्मीरहठ लिखा उसमें भी यह घटना ज्यों की त्यों ले ली गई है। ग्वाल कवि के हम्मीरहठ में भी बहुत संभव है कि यह घटना ली गई होगी।

प्राचीन वीरकाल के अंतिम राजपूत वीर का चरित्र जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें हिंदी-काव्य की ऐतिहासिक परंपरा की अच्छी जानकारी थी यह बात स्पष्ट लक्षित होती है। नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

कब हठ करै अलावदी रणथँभवर गढ़ आहि।
कबै सेख सरनै रहै बहुरयो महिमा साहि॥
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि।
जो हठ छडो राव तुम, उत न लजै अजमेरि॥
सरन राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर कौं यह दीन्हौं उपदेस॥

कहँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्यो।
कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर-दुख मिट्यो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो।
रह्यो न रहिए कोय देव नर नाग सु चीनो॥
यह बात राव हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही।
जो भई चक्कवै मडली सुनौ राव दीखै नहीं॥

जीवन-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै ससार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि॥

पुडरीक-सुत-सुता तासु पद-कमल मनाऊँ।
विसद बरन बर बसन विपद भूपन हिय ध्याऊँ॥
विपद जत्र सुर सुद्ध तत्र तुमर जुत सोहै।
विपद ताल इक भुजा, दुतिय पुस्तक मन मोहै॥
गति राजहस हसह चढ़ी रटी सुरन कीरति विमल।
जय मातु सदा बरदायिनी, देहु सदा बरदान मल॥

(१५) बख्शी हंसराज—ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म सवत् १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिशुनजी पन्ना राज्य के मत्री थे। हसराजजी पन्नानरेश श्रीअमान-

इत तें चली राधिका गोरी सौंपन अपनी गैया।
उत तें अति आतुर आनँद सो आए कुँवर कन्हैया॥
कसि भौंहैं, हँसि कुँवरि राधिका कान्ह कुँवर सो बोली।
अँग अँग उमगि भरे आनँद सों, दरकति छिन छिन चोली॥

——

एरे मुकुटवार चरवाहे! गाय हमारी लीजो।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी, सौंपि खरक कै दीजो॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया।
करि दीजो तुम आय दोहनी, पावै दूध लुरैया॥

——

कोऊ कहूँ आय बनबीथिन या लीला लखि जैहै।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सो सिगरे ब्रज बगरैहै॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातैं सुनिहै कीरति रानी।
तौ कैसे पटिहै पाटे तें, घटिहै कुल को पानी॥

(१६) जनकराज-किशोरीशरण—ये अयोध्या के एक वैरागी थे और संवत् १७९७ में वर्त्तमान थे। इन्होंने भक्ति, ज्ञान और रामचरित-संबंधिनी बहुत सी कविता की है। कुछ ग्रंथ संस्कृत में भी लिखे हैं। हिंदी कविता साधारणतः अच्छी है। इनकी बनाई पुस्तकों के नाम ये हैं—

आंदोलरहस्य दीपिका, तुलसीदासचरित्र, विवेकसार चंद्रिका, सिद्धांतचौतीसी, बारहखड़ी, ललित-शृंगार दीपक, कवितावली, जानकी-सरणाभरण, सीताराम सिद्धांतमुक्तावली, अनन्य-तरंगिणी, रामरस-तरंगिणी, आत्मसंबंध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदांतसार, श्रुति-दीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण।

उपर्युक्त सूची से प्रकट है कि इन्होंने राम-सीता के शृंगार, ऋतु-विहार आदि के वर्णन में ही भाषा कविता की है। इनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाब।
गुंजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रंज अँग फाब॥

सीरो सुगंध सुमंद बात बिनोद कंत बहंत।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाख कामिनि कंत॥

(१७) अलबेली अलि—ये विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा 'वंशीअलि' जी के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। अनुमान है इनका कविता-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है। ये भाषा के सत्कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत में भी सुंदर रचना करते थे जिसका प्रमाण इनका लिखा 'श्रीस्तोत्र' है। इन्होंने "समय प्रबंध पदावली" नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमें ३१३ बहुत ही भाव भरे पद हैं। नीचे कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं—

लाल तेरे लोभी लोलुप नैन।
केहि रस-छकनि छके हौ छबीले मानत नाहिंन चैन।
नींद नैन घुरि घुरि आवत अति, घोरि रही कछु नैन॥
अलबेली अलि रस के रसिया कत बितरत ये बैन।

बने नवल प्रिय प्यारी।
सरद रैन उजियारी॥
सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुना-तीर सुहायो।
सकल कला-पूरन ससि सीतल महिमंडल पर आयो॥
अतिसय सरस सुगंध मंद गति बहत पवन रुचिकारी।
नव नव रूप नवल नव जोबन बने नवल पिय प्यारी॥

(१८) चाचा हित वृंदावन दास—ये पुष्कर क्षेत्र के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे और संवत् १७६५ में उत्पन्न हुए थे। ये राधा बल्लभीय गोस्वामी हितरूपजी के शिष्य थे। तत्कालीन गोसाईंजी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण गोसाईंजी की देखादेखी सब लोग इन्हें "चाचाजी" कहने लगे। ये महाराज नागरीदासजी के भाई बहादुरसिंहजी के आश्रय में रहते थे पर जब राजकुल में विग्रह उत्पन्न हुआ तब ये कृष्णगढ़ छोड़कर वृंदावन चले आए और अंत समय तक

वहीं रहे। संवत् १८०० से लेकर संवत् १८४४ तक की इनकी रचनाओं का पता लगता है। जैसे सूरदास के सवा लाख पद बनाने की जनश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छंद बनाने की बात प्रसिद्ध है। इनमें से २०००० के लगभग पद्य तो इनके मिले हैं। इन्होंने नखशिख, अष्टयाम, समय प्रबंध, छद्मलीला आदि असंख्य प्रसंगों का विशद वर्णन किया है। छद्मलीलाओं का वर्णन तो बड़ा ही अनूठा है। इनके ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं। रागरत्नाकर आदि ग्रंथों में इनके बहुत से पद संगृहीत मिलते हैं। छत्रपुर के राजपुस्तकालय में इनकी बहुत सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नहीं है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओं के अंतर्गत वचन और व्यापार की योजना भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं।

(मनिहारी लीला से)

मिठबोलनी नवल मनिहारी।
भौंहैं गोल गरूर हैं, याके नयन चुटीले भारी॥
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट में मुसकाति।
ससि मनु बदरी ओट तें दुरि दरसत यहि भाँति॥
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय।
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोय॥

प्रीतम तुम मो दृगन बसत हो।
कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हो॥
लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमहीं सौ लसत हो।
वृंदावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हो॥

(१९) गिरिधर कविराज—इनका कुछ भी वृत्तांत ज्ञात नहीं। नाम से भाट जान पड़ते हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म-संवत् १७७० [illegible] ठीक हो। इस हिसाब से इनका कविता-

(२०) भगवत रसिक—ये टट्टी सप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनी दास के शिष्य थे। इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निर्लिप्त भाव से भगवद्भजन में ही लगे रहे। अनुमान से इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग हुआ। अत इनका रचना-काल सवत् १८३० और १८५० के बीच माना जा सकता है। इन्होंने अपनी उपासना से सबंध रखनेवाले अनन्य-प्रेम-रस-पूर्ण बहुत से पद, कवित्त, कुडलियाँ, छप्पय आदि रचे हैं जिनमें एक ओर तो वैराग्य का भाव और दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव छलकता है। इनका हृदय प्रेम-रस-पूर्ण था। इसी से इन्होंने कहा है कि "भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक विना कोउ समुझि सकै ना।" ये कृष्ण-भक्ति में लीन एक प्रेम योगी थे। इन्होंने प्रेमतत्त्व का निरूपण बड़े ही अच्छे ढँग से किया है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कुजन तें उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधुवन करि दडवत विहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद लगी जब भोजन-साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृ दावन विहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरे॥

———

हमारो वृ दावन उर और।
माया काल तहाँ नहिं व्यापै जहाँ रसिक सिरमौर॥
छूटि जाति सत असत वासना, मन की दौरा-दौर।
भगवत रसिक बतायो श्री गुरु, अमल अलौकिक ठौर॥

(२१) श्रीहठीजी—ये श्रीहितहरिवशजी की शिष्य-परपरा में बड़े ही साहित्यमर्मज्ञ और कला-कुशल कवि हो गए हैं। इन्होंने सवत् १८३७ में "राधासुधाशतक" बनाया जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त सवैया हैं। अधिकांश भक्तों की अपेक्षा इनमें विशेषता यह

है कि इन्होंने कला-पक्ष पर भी पूरा जोर दिया है। इनकी रचना में यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का बाहुल्य पाया जाता है। पर साथ ही भाषा या वाक्य-विन्यास में अव्यवस्था नहीं आने पाई है। वास्तव में 'राधासुधा-शतक' छोटा होने पर भी अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को यह ग्रंथ अत्यंत प्रिय था। उससे कुछ अवतरण दिए जाते हैं—

> अमर लता के किधौं पल्लव नवीन दोउ
> हरन मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।
> पावन पतित गुन गावैं मुनि ताके छबि,
> छलै सबिता के जनता के गुरुता के हैं॥
> नवौ निधि तिनकी सिद्धता के आदि आलै हठी,
> तीनौ लोकता के प्रभुता के प्रभु ताके हैं
> कटे पाप ताके बढ़े पुन्य के पताके जिन
> ऐसे पद ताके बृषभानु की सुता के हैं॥

———

> गिरि कीजै गोधन मयूर नव कुंजन को,
> पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
> नर कौन? तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
> तट कीजै बर कूल कालिंदी-कगर को॥
> इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
> राखिए न आन फेर हठी के झगर को।
> गोपी पद-पंकज पराग कीजै महाराज,
> तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को॥

(२२) गुमान मिश्र—ये महोबे के रहनेवाले गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई और थे। दीपसाहि, खुमान और अमान। गुमान ने पिहानी के राजा अकबरअलीखाँ के आश्रय में संवत् १८०० में श्रीहर्षकृत नैषध काव्य का पद्यानुवाद नाना छंदों में किया। यही ग्रंथ इनका प्रसिद्ध है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त

खोज में इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—कृष्णचंद्रिका और छंदाटवी (पिंगल)। कृष्णचंद्रिका का निर्माणकाल संवत् १८३८ है। अत इनका कविता-काल संवत् १८०० से संवत् १८४० तक माना जा सकता है। इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त रस, नायिकाभेद, अलंकार आदि कई और ग्रंथ सुने जाते हैं।

यहाँ केवल इनके नैषध के संबंध में ही कुछ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में इन्होंने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है और बहुत जल्दी जल्दी छंद बदले हैं। इंद्रवज्रा, वंशस्थ, मंदाक्रांता, शार्दूलविक्रीडित आदि कठिन वर्णवृत्तों से लेकर दोहा चौपाई तक मौजूद हैं। ग्रंथारंभ में अकबरअली खाँ की प्रशंसा में जो बहुत से कवित्त इन्होंने कहे हैं, उनसे इनकी चमत्कार-प्रियता स्पष्ट प्रकट होती है। उनमें परिसंख्या अलंकार की भरमार है। गुमानजी अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कला-कुशल थे, इसमें कोई संदेह नहीं। भाषा पर भी इनका पूरा अधिकार था। जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं हैं उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुंदर है। वह स्वतंत्र रचना के रूप में प्रतीत होता है। पर जहाँ कुछ जटिलता है वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है। बिना मूल श्लोक सामने आए ऐसे स्थलों का स्पष्ट अर्थ निकालना कठिन ही है। अत सारी पुस्तक के संबंध में यही कहना चाहिए कि अनुवाद में वैसी सफलता नहीं हुई है। संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण में यह असफलता गुमान ही के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। रीतिकाल के जिन जिन कवियों ने संस्कृत से अनुवाद करने का प्रयत्न किया है उनमें से बहुत से असफल हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस काल में जिस मधुर रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल रस व्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावों और विचारों के प्रकाशन में वैसा समर्थ नहीं हुआ। कुलपति मिश्र ने अपने "रसरहस्य" में काव्यप्रकाश का जो अनुवाद किया है उसमें भी जगह जगह इसी प्रकार की अस्पष्टता है।

(२३) सरजूराम पंडित—इन्होंने "जैमिनि पुराण भाषा" नामक एक कथात्मक ग्रंथ संवत् १८०५ में बनाकर तैयार किया। इन्होंने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। जैमिनि पुराण दोहों चौपाइयों में तथा और कई छंदों में लिखा गया है और ३६ अध्यायों में समाप्त है। इसमें बहुत सी कथाएँ आई हैं, जैसे, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीतात्याग, लवकुश-युद्ध, मयूर-ध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की कथाएँ। चौपाइयों का ढँग "रामचरितमानस" का सा है। कविता इनकी अच्छी हुई है। उसमें गांभीर्य है। नमूने के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

गुरुपद पंकज पावन रेनू। कहा कल्पतरु, का सुरधेनू॥
गुरुपद-रज अज हरिहर धामा। त्रिभुवन विभव, विस्व विश्रामा॥
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना। परम तत्त्व गुरु जिय नहिं जाना॥
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाऊ। स्रवन सुधामय तीरथराऊ॥
सुमिरत होत हृदय असनाना। मिटत मोहमय मन-मल नाना॥

(२४) भगवंतराय खीची—ये असोथर (जिला फतहपुर) के एक बड़े गुणग्राही राजा थे जिनके यहाँ बराबर अच्छे अच्छे कवियों का सत्कार होता रहता था। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि इन्होंने सातों कांड रामायण बड़े सुंदर कवित्तों में बनाई है। यह रामायण तो इनकी नहीं मिलती पर हनुमानजी की प्रशंसा के ५० कवित्त इनके अवश्य पाए गए हैं जो संभव है रामायण के ही अंश हों। खोज में जो इनकी "हनुमत् पचीसी" मिली है उसमें निर्माणकाल १८१७ दिया है। इनकी कविता बड़ी ही उत्साहपूर्ण और ओजस्विनी है। एक कवित्त देखिए—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।
जाही सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ़, जासों
[illegible] ेरे, लंकिनी सों मार की॥

बनै मयवंत वारी अपि लागि मैं प्रभु,
वाके मास लखन के सुमित्रा कुमार को।
जोरै समक्ष श्री प्रतापी महाप्रतापी, वैरी
सुद मद मानी वाली पवन-कुमार को॥

(२५) सूदन—ये मथुरा के रहनेवाले माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम बसंत था। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। उन्हीं के पराक्रम-पूर्ण चरित्र का वर्णन इन्होंने 'सुजानचरित्र' नामक प्रबंधकाव्य में किया है। मोगल-साम्राज्य के गिरे दिनों में भरतपुर के जाट राजाओं का कितना प्रभाव बढ़ा था यह इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होंने शाही महलों और खजानों को कई बार लूटा था। पानीपत की अंतिम लड़ाई के संबंध में इतिहासज्ञों की यह धारणा है कि यदि पेशवा की सेना का संचालन भरतपुर के अनुभवी महाराज के कथनानुसार हुआ होता और वे रूठकर न लौट आए होते तो मरहठों की हार कभी न होती। इसी से ये भरतपुरवालों के आतंक और प्रभाव का अनुमान हो सकता है। अतः सूदन को एक सच्चा वीर चरितनायक मिल गया।

'सुजानचरित्र' बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमें संवत् १८ २ से लेकर ८१ तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१ के दस पंद्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८१ के आसपास माना जा सकता है। सूरजमल की वीरता की जो घटनाएँ कवि ने वर्णित की हैं वे कपोल-कल्पित नहीं, ऐतिहासिक हैं। जैसे अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ के फतहअली पर चढ़ाई करने पर सूरजमल का फतहअली के पक्ष में होकर असदखाँ का ससैन्य नाश करना, मेवाड़, माँड़ौगढ़ आदि जीतना, संवत् १८ ४ में जयपुर की ओर होकर मरहठों को हटाना, संवत् १८ ५ में बादशाही सेनापति सलावतखाँ बख्शी को परास्त करना, संवत् १८ ६ में शाही वजीर सफदरजंग मंसूर की सेना से

मिलकर बगश पठानों पर चढाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजानचरित्र' का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत कुछ है।

इस काव्य की रचना के सबंध में सबसे पहली बात जिस पर ध्यान जाता है वह वर्णनों का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलबन किया है, जिससे पाठकों को बहुत से स्थलों पर अरुचि हो, जाती है। कहीं घोड़ों की जातियों के नाम ही नाम गिनाते चले गए हैं, कहीं अस्त्रों और वस्त्रों की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न भिन्न देशवासियों और जातियों की फिहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न भिन्न भाषाओं और बोलियों को लेकर कहीं कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गाभीर्य कवि में होना चाहिए वह इनमें नहीं पाया जाता। पद्य में व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता समझिए। ग्रथारम में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी पर उक्त त्रुटियों के कारण उनके ग्रथ का साहित्यिक महत्त्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदनजी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ी बोली, सब का पुट मिलता है। न जाने कितने गढंत के और तोड़े मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर हैं पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है। यह वीर-रसात्मक ग्रथ है और इसमें भिन्न भिन्न युद्धों का ही वर्णन है इससे अध्यायों का नाम जग रखा गया है। सात जगों में ग्रथ समाप्त हुआ है। छद बहुत से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

सोनित अरघ ढारि लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारूधूम धूपदीप, रंजक की ज्वालिका।
चरबी को चंदन, पुहुप पल-टूकन के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका॥
नैवेद्य नीको साहि सहित दिली को दल,
कामना विचारी मनसूर पन-पालिका॥
कोटरा के निकट विकट जंग जोरि सूजा
भली विधि पूजा कै प्रसन्न कीन्ही कालिका॥

इसी गल्ल धरि मन में बकसी मुसक्याना।
हमनूँ बूझत हौ तुसी 'क्यों किया पयाना'॥
'असी आवने भेदनू तूने नहिं जाना।
साह अहम्मद ने मुझे अपना करि माना'॥

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे,
कुड़िए न बेखी असी मी गुरून पावाँ हाँ।
कित्थे जला पेकेँ, कित्थे उज्जले भिड़ाऊँ असी,
तुसी को ले गीवा असी जिंदगी बचावा हाँ॥
भट्टरा साहि हुआ चंदला वजीर वेखो,
एहा हाल कीता, साह गुरुनूँ मनावा हाँ।
जावाँ कित्थे जावाँ अम्मा बावे केही पावाँजलो,
एही गल्ल भक्खें लक्खौ लक्खाँ गली जावाँ हाँ॥

(२६) हरनारायण—इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' और 'बैताल पचीसी' नामक दो कथात्मक काव्य लिखे हैं। 'माधवानल कामकंदला' का रचना-काल सं० १८१२ है। इनकी कविता अनुप्रास आदि से अलंकृत है। एक कवित्त दिया जाता है—

सोहै मुंड चंद सो, त्रिपुंड सो विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप बिघन जल जीवन के
कुंड सोखि सुजन बचावै अखिलन तें॥

> पैठे मिरिमिरिनी के भौन को जात ही में
> [illegible] तोरि तमन मयामहि दिनन ते।
> सुरनि सुकृति साके सुर त निकसि जाये
> कुच जाँचि चली सुदंर के दिनन तें॥

(२७) ब्रजवासीदास—ये वृंदावन के रहनेवाले और वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ में 'ब्रजविलास' नामक एक प्रबंधकाव्य तुलसीदासजी के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में बनाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छंदों में किया है। पर इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रजविलास' ही है जिसका प्रचार साधारण श्रेणी के पाठकों में है। इस ग्रंथ में कथा भी सूरसागर के क्रम से ली गई और बहुत से स्थलों पर सूर के शब्द और भाव भी चौपाइयों में करके रख दिए गए हैं। इस बात को ग्रंथकार ने स्वीकार भी किया है—

> यामैं कछुक बुद्धि नहिं मेरो। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरो॥

इन्होंने तुलसी का छंद-क्रम ही लिया है, भाषा शुद्ध ब्रजभाषा ही है। उसमें कहीं अवधी या बैसवाड़ी का नाम तक नहीं है। जिन्हें भाषा की पहचान तक नहीं जो वीर-रस-वर्णन परिपाटी के अनुसार किसी पद्य में वर्णों का द्वित्व देख उसे प्राकृत भाषा कहते हैं वे चाहे जो कहें। ब्रजविलास में कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओं का जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी-सादी सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमें सफाई है। यह सब होने पर भी इसमें वह बात नहीं है जिसके बल से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का इतना देशव्यापी प्रचार हुआ। जीवन की परिस्थितियों की वह अनेक-रूपता गंभीरता और मर्मस्पर्शिता इसमें कहाँ जो रामचरित और तुलसी की वाणी में है? इसमें तो अधिकतर क्रीड़ामय जीवन का ही विषय है। फिर भी साधारण श्रेणी के कृष्णभक्त पाठकों में इसका प्रचार है। आगे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

कहति जसोदा कौन विधि समझाऊँ अब कान्ह ।
भूलि दिखायो चद म, ताहि कहत हरि खान ॥
यहै देत नित माखन मोको । छिन छिन देति तात सो तोको ॥
जो तुम स्याम चद को खैहो । बहुरो फिर माखन कहँ पैहो ?
देखत रहौ खिलौना चदा । हठ नहि कीजै बालगोविंदा ॥
पा लागौ हठ अधिक न कीजै । मै बलि, रिसहि रिसहि तन छीजै ॥
जसुमति कहति कहा धौ कीजै । माँगत चद कहाँ तें दीजै ॥
तब जसुमति इक जलपुट लीनो । कर मैं लै तेहि ऊँचो कीनो ॥
ऐसे कहि श्यामैं बहरावै । आव चद ! तोहि लाल बुलावै ॥
हाथ लिए तेहि खेलत रहिए । नैकु नहीं धरनी पै धरिए ॥

(२८) **गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव**—इन तीनों महानुभावों ने मिलकर हिंदी-साहित्य में बड़ा भारी काम किया है। इन्होंने समग्र महाभारत और हरिवंश (जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है) का अनुवाद अत्यत मनोहर विविध छदों में पूर्ण कवित्व के साथ किया है। कथा प्रबध का इतना बड़ा काव्य हिंदी-साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रथ होने पर भी न तो इसमें कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्यगुण में कमी हुई है। छदों का विधान इन्होंने ठीक उसी रीति से किया है जिस रीति से इतने बड़े ग्रथ में होना चाहिए। जो छद उठाया है उसका कुछ दूर तक निर्वाह किया है। केशवदास की तरह छदों का तमाशा नहीं दिखाया है। छदों का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छद अधिक रखे गए हैं, बीच बीच में दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। भाषा प्राजल और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि का अधिक आग्रह न होने पर भी आवश्यक विधान है। रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखकों की काव्य-कुशलता का परिचय देती है। इस ग्रथ के बनने में भी ५० वर्ष के ऊपर लगे हैं। अनुमानत इसका आरभ

संवत् १८३ में हो चुका था और यह संवत् १८८४ में जाकर समाप्त हुआ है। इसकी रचना काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिंह की आज्ञा से हुई जिन्होंने इसके लिये लाखों रुपये व्यय किए। इस बड़े भारी साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिये हिंदीप्रेमी उक्त महाराज के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र और पौत्र थे। मणिदेव बंदीजन भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आए थे। काशी में वे गोकुलनाथजी के यहाँ ही रहते थे। और स्थानों पर भी इनका बहुत मान हुआ था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे कभी कभी विक्षिप्त भी हो जाया करते थे। इनका परलोकवास संवत् १९२ में हुआ।

गोकुलनाथ ने इस महाभारत के अतिरिक्त निम्नलिखित और भी ग्रंथ लिखे हैं —

चेतचंद्रिका गोविंदसुखदविहार, राधाकृष्ण-विलास (सं १८५८) राधानखशिख, नामरत्नमाला (कोश) (सं १८७), सीताराम-गुणार्णव अमरकोष भाषा (सं १८०) कविमुखमंडन।

चेतचंद्रिका अलंकार का ग्रंथ है जिसमें काशिराज की वंशावली भी दी हुई है। 'राधाकृष्ण-विलास' रस संबंधी ग्रंथ है और 'जगद्विनोद' के बराबर है। 'सीताराम गुणार्णव' अध्यात्मरामायण का अनुवाद है जिसमें पूरी रामकथा वर्णित है। 'कविमुखमंडन' भी अलंकार-संबंधी ग्रंथ है। गोकुलनाथ का कविता-काल संवत् १८४ से १८७० तक माना जा सकता है। ग्रंथों की सूची से ही स्पष्ट है कि वे कितने निपुण कवि थे। रीति और प्रबंध दोनों ओर इन्होंने प्रचुर रचना की है। इतने बड़े परिमाण में और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ काव्यकला में सिद्धहस्त और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाला हो। अतः महाभारत के

तीनों अनुवादकों में तो ये श्रेष्ठ हैं ही, साहित्यक्षेत्र में भी ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं। रीतिग्रंथ रचना और प्रबंध-रचना दोनों में समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता।

महाभारत के जिस जिस अंश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अंश में उसका नाम दिया हुआ है। नीचे तीनों कवियों की रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

गोकुलनाथ—

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुंजपुंज
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन-मन्त्र तन्त्र के बरन गुनगान की।
सौतिन के कानन में हलाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि! तौ बजनि बिछुवान की॥
(राधाकृष्णविलास)

— —

दुर्ग अतिही महत रचित भटन सो चहुँ ओर।
ताहि घेरयो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह॥

———

लहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच कीचक जौन।
जाय सिंहिनि पास जंबुक तथा कीनो गौन॥
लग्यो कृष्णा सो कहन या भाँति सस्मित मैन।
यहाँ आई कहाँ तें? तुम कौन हौ छबि-ऐन?

———

बिताए और उसी बीच में "विरह-वारीश" नामक एक पुस्तक लिखकर तैयार की। ६ महीने पीछे जब ये फिर दरबार में लौटकर आए तब अपने "विरह वारीश" के कुछ कवित्त सुनाए। महाराज ने प्रसन्न होकर इनसे कुछ माँगने को कहा। इन्होंने कहा "सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान को इन्हें दे दिया और इनकी मुराद पूरी हुई।

'विरह-वारीश' के अतिरिक्त "इश्कनामा" भी इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके बहुत से फुटकल कवित्त सवैये इधर उधर पाए जाते हैं। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यों की ही रचना की है। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है। यत्र तत्र व्याकरण-दोष रहने पर भी भाषा इनकी चलती और मुहावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव में फक्कड़पन भी कम नहीं था। 'नेजे', 'कटारी' और 'कुरबान' वाली बाजारी ढँग की रचना भी इन्होंने कहीं कहीं की है। जो कुछ हो, ये भावुक और रसज्ञ कवि थे, इसमें कोई संदेह नहीं। कुछ पद्य इनके नीचे दिए जाते हैं—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापैं न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥

—

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि कै मुसकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहा कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को॥

——

'कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाँड़ सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत,
 हित को न जानै ताको हितू न विसारिए।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै
 लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै
 आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए।
दाता कहा, सूर कहा, सुंदर सुजान कहा,
 आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए॥

(१०) रामचंद्र—इन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। भाषा महिम्न के कर्ता काशीवासी मनियारसिंह ने इन्हें "चाकर अखंडित श्रीरामचंद्र पंडित के" लिखा है। मनियारसिंह ने अपना 'भाषा महिम्न" संवत् १८४१ में लिखा। अतः इनका समय संवत् १८४० माना जा सकता है। इनकी एक ही पुस्तक "चरणचंद्रिका" ज्ञात है जिस पर इनका सारा यश स्थिर है। यह भक्ति-रसात्मक ग्रंथ केवल ६२ कवित्तों का है। इसमें पार्वतीजी के चरणों का वर्णन अत्यंत रुचिर और अनूठे ढंग से किया गया है। इस वर्णन से अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शांति फूटी पड़ती है। उपास्य के एक अंग में अनंत ऐश्वर्य की भावना भक्ति की चरम भावुकता के भीतर ही संभव है। भाषा आलंकारिक और पांडित्यपूर्ण है। कुछ और अधिक न कहकर इनके दो कवित्त ही सामने रख देना ठीक है।

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
 मीन होत जानि चरनामृत झरनि मैं।

खंजन से नचैं देखि सुषमा सरद की सी,
सचैं मधुकर से पराग केसरनि को ॥
रीझि रीझि तेरी पदछवि पै तिलोचन के,
लोचन ये, अंब! धारैं केतिक धरनि को।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को ॥

मानिए करींद्र जो हरींद्र को सरोष हरै,
मानिए तिमिर घेरै भानु किरनन को।
मानिए चटक बाज जुर्रा को पटकि मारै,
मानिए भटकि डारै भेक भुजगन को ॥
मानिए कहै जो वारिधार पै दवारि औ
अँगार बरसाइबो बतावै बारिदन को।
मानिए अनेक विपरीत की प्रतीति, पै न
भीति आइ मानिए भवानी-सेवकन को ॥

(३१) मंचित—ये मऊ (बुँदेलखंड) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३६ में वर्त्तमान थे। इन्होंने कृष्ण चरित संबंधी दो पुस्तकें लिखी हैं—सुरभी दानलीला और कृष्णायन। सुरभी-दानलीला में बाललीला, यमलार्जुन-पतन और दानलीला का विस्तृत वर्णन सार छंद में किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण का नखसिख भी बहुत अच्छा कहा गया है। कृष्णायन तुलसीदासजी की रामायण के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में लिखी गई है। इन्होंने गोस्वामीजी की पदावली तक का अनुकरण किया है। स्थान स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है, इससे व्रजवासीदास की चौपाइयों की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामीजी की चौपाइयों से कुछ अधिक मेल खाती हैं। पर यह मेल केवल कहीं कहीं दिखाई पड़ जाता है। भाषामर्मज्ञ को दोनों का भेद बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है। इनकी भाषा व्रज है, अवधी नहीं। उसमें वह सफाई और व्यवस्था कहाँ?

कृष्णायन की अपेक्षा इनकी मुरली-रासलीला की रचना अधिक सरस है। दोनों से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

> कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
> डुलैं आय ते मुनैं मोर दुति बरबस मनहिं चुरावैं॥
> चौर बिसाल भाल पर सोभित केसर की चिन आवैं।
> ताके बीच बिंदु रोरी कै, ऐसो वेष बनावैं॥
> भ्रुकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजनवारे।
> मद-गंजन एम मीन छटा के मनरंजन अनियारे॥
> (मुरली-रासलीला से)

> अवधाज धामिन भयो लखि सरिता। दृगनि न बरसा जहि लस धारित॥
> कृष्णदेव कहैं पिन मथुरा सी निधि मैथुल मिलीक मनाली॥
> मनि बिस्तार पार, घन बाजन। उमड़ अपार घाट घनघावन॥
> नगधर नगन विपुल बहु पच्छी। अलि अवली गुंजि गुंजि अति अच्छी॥
> नाना विविध मीन छवि मैं। विनाहीन अनम छवि मैं॥
> (कृष्णायन)

(१२) मधुसूदनदास—ये माथुर चौबे थे। इन्होंने गोबिंद दास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से संवत् १८३९ में 'रामाश्वमेध' नामक एक बड़ा और मनोहर प्रबंधकाव्य बनाया जो सब प्रकार से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य है। इसमें श्रीरामचंद्र द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि का घोर युद्ध, अंत में राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम; श्रीरामचंद्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रों सहित सीता का अयोध्या में आगमन; इन सब प्रसंगों का पद्मपुराण के आधार पर बहुत ही विस्तृत और रोचक वर्णन है। ग्रंथ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है। प्रधानता दोहों के साथ चौपाइयों की है, पर बीच बीच में गीतिका आदि और छंद भी हैं। पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है। प्रत्येक

और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गए हैं। गोस्वामीजी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदासजी को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबंधकुशलता, कवित्व शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं। इनकी चौपाइयाँ अलबत्ता गोस्वामीजी की चौपाइयों में बेखटके मिलाई जा सकती हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाले भाषा-मर्मज्ञों को केवल थोड़े ही से ऐसे स्थलों में भेद लक्षित हो सकता है जहाँ बोलचाल की भाषा होने के कारण भाषा का असली रूप अधिक स्फुटित है। ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी के अवधी के रूप और प्रत्यय न देखकर भेद का अनुभव हो सकता है। पर जैसा कहा जा चुका है पदविन्यास की प्रौढता और भाषा का सौष्ठव गोस्वामीजी के मेल का है।

> प्रिय-रघुपति पदकज प्रीना। प्रथमहि रहा कहाँ सप्रीना॥
> मृदु मंजुल सुदर सब भाँती। ससि कर-सरिस सुभग नख पाँती॥
> प्रनत कल्पतरु तर सब ओरा। दहन अघ तम जन चितचोरा॥
> त्रिविध कलुष कुंजर घनघोरा। जगप्रसिद्ध केहरि बरजोरा॥
> चिंतामणि पारस सुरधेनू। अधिक कोटि गुन अभिमत देनू॥
> जन-मन मानस रसिक मराला। सुमिरत भंजन विपति बिसाला॥

> निरखि कालजित कोपि अपारा। विहित हाथ करि गदा प्रहारा॥
> महावेगयुत आवै सोई। अष्टधातुमय जाय न जोई॥
> अयुत भार भरि भार प्रमाना। देखिय जमपति-दंड समाना॥
> देखि ताहि लव हरि इषु चढ़ा। कीन्हो तुरत गदा शत खंडा॥
> जिमि नभ माहँ मेघ-समुदाई। बरषहिं बारि सदा झरि लाई॥
> तिमि प्रचंड सायक जनु ब्याला। हने कीस-तन लव तेहि काला॥
> भए विकल अति पवनकुमारा। लगे करन तब हृदय विचारा॥

(३२) मनियारसिंह—ये काशी के रहनेवाले क्षत्रिय थे। इन्होंने देवपक्ष में ही कविता की है और अच्छी की है। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता है—

उदर विदारि मारि लुत्थन को टारि बीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि ॥

(३४) कृष्णदास—ये मिरजापुर के रहनेवाले कोई कृष्णभक्त जान पड़ते हैं। इन्होंने संवत् १८५३ में "माधुर्य्य लहरी" नाम की एक बड़ी पुस्तक ४२० पृष्ठों की बनाई जिसमें विविध छंदों में कृष्ण-चरित का वर्णन किया गया है। कविता इनकी साधारणतः अच्छी है। एक कवित्त देखिए—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहो नरदेव कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धांत जानि,
लोला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए ॥
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासो दपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित ही गनाइए ॥

(३५) गणेश—ये नरहरि बंदीजन के वंश में लाल कवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र थे और संवत् १८५० से लेकर १९१० तक वर्त्तमान थे। ये काशिराज महाराज उदितनारायणसिंह के दरबार में थे और महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के समय तक जीवित रहे। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे—१—वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश। (बालकांड समग्र और किष्किंधा के पाँच अध्याय) २—प्रद्युम्न-विजय नाटक। ३—हनुमत् पचीसी।

प्रद्युम्नविजय नाटक समग्र पद्यबद्ध है और अनेक प्रकार के छंदों में सात अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें दैत्यों के वज्रनाभपुर नामक नगर में प्रद्युम्न के जाने और प्रभावती से गांधर्व विवाह होने की कथा है। यद्यपि इसमें पात्र-प्रवेश, विष्कंभक, प्रवेशक आदि नाटक के अंग रखे गए हैं पर इतिवृत्त का भी वर्णन पद्य में होने के कारण नाटकत्व नहीं आया है। एक उदाहरण दिया जाता है—

बुंदेलखंडी ठाकुर की वे कविताएँ पहचानी जा सकती हैं जिनमें बुंदेलखंडी कहावतें या मुहावरे आए हैं।

असनीवाले प्राचीन ठाकुर

ये रीतिकाल के आरंभ में संवत् १७०० के लगभग हुए थे। इनका कुछ वृत्त नहीं मिलता, केवल फुटकल कविताएँ इधर उधर पाई जाती हैं। संभव है, इन्होंने रीतिबद्ध रचना न करके अपने मन की उमंग के अनुसार ही समय समय पर कवित्त सवैये बनाए हों जो चलती और स्वच्छ भाषा में हैं। इनके ये दो सवैये बहुत सुने जाते हैं—

सजि सूहे दुकूलन बिज्जुछटा सी अटान चढ़ी घटा जोवति हैं।
सुचिती ह्वै सुनैं धुनि मोरन की, रसमाती सँजोग सँजोवति हैं॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आँसुन सों तन धोवति हैं।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतिया लगि सोवति हैं॥

बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौंरन भीर चुपैबो चहै ना॥
सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
ब्याकुल कीन्हो बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों कोऊ कहै ना॥

असनीवाले दूसरे ठाकुर

ये ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पितामह थे। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपने पूर्वजों का जो वर्णन लिखा है उसके अनुसार ऋषिनाथजी के पूर्वज देवकीनंदन मिश्र गोरखपुर जिले के एक कुलीन सरयूपारी ब्राह्मण—पयासी के मिश्र—थे और अच्छी कविता करते थे। एक बार मझौली के राजा के यहाँ विवाह के अवसर पर देवकीनंदनजी ने भाटों की तरह कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार लिया। इस पर उनके भाई बंधुओं ने उन्हें जातिच्युत कर दिया और वे असनी के भाट नरहर कवि की कन्या के साथ अपना

विवाह करके असनी में आ रहे और वहीं के हो गए। उन्हीं देवकीनंदन के वंश में ठाकुर के पिता ऋषिनाथ कवि हुए।

ठाकुर ने संवत् १८६१ में "सतसई बरनार्थ" नाम की बिहारी सतसई की एक टीका (देवकीनंदन टीका) बनाई। अतः इनका कविता-काल संवत् १८६० के इधर उधर माना जा सकता है। ये काशिराज के संबंधी काशी के नामी रईस (जिनकी हवेली अब तक प्रसिद्ध है) बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। इनका विशेष वृत्तांत स्व० पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपने "बिहारी बिहार" की भूमिका में दिया है। ये ठाकुर भी बड़ी सरस कविता करते थे। इनके पदों में भाव या दृश्य का निर्वाह अबाध रूप में पाया जाता है। दो उदाहरण लीजिए—

> कारे लाल करहे पलासन के पुंज तिन्हैं
> अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
> ताही को ससेटी तुंड पुंजन-करेटी जाय
> बन तें मवास उपटावन लगी है री॥
> ठाकुर कहत सुचि सौरभ प्रकासन में
> आछी भाँति रुचि उपजावन लगी है री।
> ताती सीरी बैहर वियोग या संयोगवारी,
> आवनि बसंत की जनावन लगी है री॥

— —

> प्रात झुकामुकि भेष छपाय कै गागर लै घर तें निकरी ती।
> जानि परी न कितीक अबार है जाय परी जहँ होरी धरी ती॥
> ठाकुर दौरि परे मोहि देखि कै, भागि बची री, बड़ी सुघरी ती।
> बीर की सौं जौ किंवार न देउँ तौ मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

तीसरे ठाकुर बुंदेलखंडी

ये जाति के कायस्थ थे और इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। इनके पूर्वज काकोरी (जिला लखनऊ) के रहनेवाले थे और इनके पितामह खड्गरायजी बड़े भारी मंसबदार थे। उनके पुत्र

गुलाबराय का विवाह बड़ी धूमधाम से ओरछे (बुंदेलखंड) के राव राजा (जो महाराज ओरछा के मुसाहब थे) की पुत्री के साथ हुआ था। ये ही गुलाबराय ठाकुर कवि के पिता थे। किसी कारण से गुलाबराय अपनी ससुराल ओरछे में ही आ बसे जहाँ संवत् १८२१ में ठाकुर का जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त होने पर ठाकुर अच्छे कवि निकले और जैतपुर में सम्मान पाकर रहने लगे। उस समय जैतपुर के राजा केसरीसिंहजी थे। ठाकुर के कुल के कुछ लोग बिजावर में भी जा बसे थे। इससे ये कभी कभी वहाँ भी रहा करते थे। बिजावर के राजा ने भी एक गाँव देकर ठाकुर का सम्मान किया। जैतपुर-नरेश राजा केसरीसिंह के उपरांत जब उनके पुत्र राजा पारीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के एक रत्न हुए। ठाकुर की ख्याति उसी समय से फैलने लगी और वे बुंदेलखंड के दूसरे राजदरबारों में भी आने जाने लगे। बाँदे के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार में कभी कभी पद्माकरजी के साथ ठाकुर की कुछ नोंक-झोंक की बातें हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकरजी ने कहा "ठाकुर कविता तो बहुत अच्छी करते हैं पर पद कुछ हलके पड़ते हैं"। इस पर ठाकुर बोले "तभी तो हमारी कविता उड़ी उड़ी फिरती है"।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि हिम्मतबहादुर कभी अपनी सेना के साथ अँगरेजों का कार्य्यसाधन करते और कभी लखनऊ के नवाब के पक्ष में लड़ते। एक बार हिम्मतबहादुर ने राजा पारीछत के साथ कुछ धोखा करने के लिये उन्हें बाँदे बुलाया। राजा पारीछत वहाँ जा रहे थे कि मार्ग में ठाकुर कवि मिले और दो ऐसे संकेत-भरे सवैये पढ़े कि राजा पारीछत लौट गए। एक सवैया यह है—

> कैसे सुचित्त भए निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गलबाहीं।
> ये छल छिद्रन की बतियाँ छलती छिन एक घरी पल माहीं॥
> ठाकुर वै जुरि एक भए, रचिहैं परपंच कछू ब्रज माहीं।
> हाल चवाइन की दहचाल की लाल तुम्हैं है दिखात कि नाहीं?

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार में बुला भेजा। बुलाने का कारण समझकर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मतबहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्नय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि-रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं॥
ठाकुर कहत मंजु कंजु ते मृदुल मन,
मोहनी सरूप, धारे हिम्मत हिए रहैं।
भेंट भए समये असमये अचाहे चाहे,
और लौं निबाहैं आँखैं एकसी किए रहैं॥

इस पर हिम्मतबहादुर ने जब कुछ और कटु वचन कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध हैं सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदेनिया ससुर के।
चोजिन के चोजी महा मौजिन के महाराज
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुसकराते हुए बोले—'कविजी बस! मैं तो यही देखना चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिम्मत भी आप में है।' इस पर ठाकुरजी ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—'महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है आज हिम्मत कैसे गिर जायगी?' (गोसाईं हिम्मतगिरि का असल नाम अनूपगिरि था; हिम्मतबहादुर शाही खिताब था।)

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर ठसक" के नाम से श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने निकाला है। पर इसमें भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई हैं। इस संग्रह में विशेषता यह है कि कवि का जीवन वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह (चातुर) और पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। 'बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात-बात में कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिये ये कहावतें मानो एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों में से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेलखंड की हैं। ठाकुर सच्चे, उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ विशेषतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता ! जब जिस विषय पर जी में आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांग-दर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मन की परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिये, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वै है॥

यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतो बिचार बिचारि लै री॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जौ गोपाल तौ तैं बिगरी कौं सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥

पावस तें परदेस तें आय मिले पिय औ मनभाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनि कौंधि कितै को गई है?
री अब तौ घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई है॥

पिय प्यार करै जेहि पै सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौं भ्रम में, फिर पाछे परे पछितैयत है॥
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं? दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन एरी भटू! निज सौत के मायके जैयत है॥

(३८) ललकदास—वेनी कवि के भँड़ौवा से ये लखनऊ के कोई कठीधारी महंत जान पड़ते हैं जो अपनी शिष्य-मंडली के साथ इधर उधर फिरा करते थे। अतः संवत् १८६० और १८८० के बीच इनका वर्तमान रहना अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामक एक बड़ा वर्णनात्मक ग्रंथ लिखा है जिसमें रामचंद्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस ग्रंथ का उद्देश्य कौशल के साथ कथा चलाने का नहीं, बल्कि जन्म की बधाई, बाललीला, होली, जलक्रीड़ा, झूला,

को है अंसुमाल, को है काल विकराल,
मेरे सामुहें भए न रहै मान महेसान को ॥
तू तो सुकुमार यार लखन कुमार ! मेरो
मार बेसुमार को सहैया घमासान को ।
बीर ना चितैया, रनमंडल रितैया, काल
कहर बितैया हौं जितैया मघवान को ॥

(४०) **नवलसिंह कायस्थ**—ये झाँसी के रहनेवाले थे और समथर-नरेश राजा हिंदूपति की सेवा में रहते थे। इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की है जो भिन्न भिन्न विषयों पर और भिन्न भिन्न शैली के हैं। ये अच्छे चित्रकार भी थे। इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—

रासपंचाध्यायी, रामचंद्रविलास, शंकामोचन (सं० १८७३), जौहरिन तरंग (१८७५), रसिकरंजनी (१८७७), विज्ञान-भास्कर (१८७८) ब्रजदीपिका (१८८३), शुकरंभासंवाद (१८८८), नाम-चिंतामणि (१९०३), मूलभारत (१९१२), भारत सावित्री (१९१२), भारत कवितावली (१९१३), भाषा सप्तशती (१९१७), कविजीवन (१९१८), आल्हा-रामायण (१९२२), रुक्मिणीमंगल (१९२५), मूलढोला (१९२५), रहस लावनी (१९२६), अध्यात्मरामायण, रूपक रामायण, नारीप्रकरण, सीतास्वयंवर, रामविवाहखंड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, पूर्व शृंगारखंड, मिथिलाखंड, दानलोभ संवाद, जन्मखंड ।

उक्त पुस्तकों में यद्यपि अधिकांश बहुत छोटी छोटी हैं फिर भी इनकी रचना की बहुरूपता का आभास देती हैं। इनकी पुस्तकें प्रकाशित नहीं हुई हैं। अतः इनकी रचना के संबंध में विस्तृत और निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। खोज की रिपोर्टों में उद्धृत उदाहरणों के देखने से रचना इनकी पुष्ट और अभ्यस्त प्रतीत

है। पर हावों का वह सुंदर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, सचारियों की वह सुंदर व्यजना इस सतसई में कहाँ? नकल ऊपरी बातों की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिये हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखों से ही नहीं काम चल सकता। इस बड़े भारी भेद के होते हुए भी "रामसतसई" शृगाररस का एक उत्तम ग्रथ है। इस सतसई के अतिरिक्त इन्होंने तीन पुस्तकें और लिखी हैं—

वाणीभूषण, वृत्ततरगिणी (स० १८७३) और ककहरा।

वाणीभूषण अलकार का ग्रथ है और वृत्त-तरगिणी पिंगल का। ककहरा जायसी की 'अखरावट' के ढंग की छोटी सी पुस्तक है और शायद सबसे पिछली रचना है, क्योंकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश हैं। रामसहाय का कविता काल सवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। नीचे सतसई के कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

गड़े नुकीले लाल के नैन रहैं दिन रैनि।
तब नाजुक ठोड़ी न क्यो गाड़ परै मृदुबैनि?
भटक न, झटपट चटक कै अटक सुनट के सग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनग॥

लागे नैना नैन में कियो कहा धौं मैन।
नहिं लागैं नैना, रहैं लागे नैना नै न॥
गुलुफनि लगि ज्यो त्यो गयो करि करि साहस जोर।
फिर न फिरयो मुरवान चपि, चित अति खात मरोर॥
यौं विभाति दसनावली ललना बदन मँझार।
पति को नातो मानि कै मनु आई उडुमार॥

(४२) चद्रशेखर—ये वाजपेयी थे। इनका जन्म स० १८५५ में मुअज्जमाबाद (जिला फ़तहपुर) में हुआ था। इनके पिता मनीरामजी भी अच्छे कवि थे। ये कुछ दिनों तक दरभगे की ओर,

फिर ६ वर्ष तक जोधपुर नरेश महाराज मानसिंह के यहाँ रहे। अंत में ये पटियालानरेश महाराज कर्मसिंह के यहाँ गए और जीवन भर पटियाले में ही रहे। इनका देहांत संवत् १९३२ में हुआ। ये महाराज नरेंद्रसिंह के समय तक वर्तमान थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने अपना प्रसिद्ध वीरकाव्य "हम्मीरहठ" बनाया। इसके अतिरिक्त इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

विवेक-विलास, रसिकविनोद, हरिभक्ति-विलास, नखशिख, वृंदावन-शतक, गुरुपंचाशिका, ताजक ज्योतिष, माधवी वसंत।

यद्यपि शृंगाररस की कविता करने में भी ये बहुत ही प्रवीण थे पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिये "हम्मीरहठ" ही पर्याप्त है। उत्साह की उमंग की व्यंजना जैसी चलती स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे कम से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीररस के वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़कर उग्रोत्साह-व्यंजक उक्तियों का ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया है, जो वीररस की जान है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को जिसमें वस्तुओं की बड़ी लंबी चौड़ी सूची भरी जाती है स्थान नहीं दिया गया है। भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित च्युतसंस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है। तात्पर्य यह कि वीररस-वर्णन की अत्यंत श्रेष्ठ प्रणाली का अनुसरण चंद्रशेखरजी ने किया है।

रही प्रबंध विधान की बात। इस विषय में कवि ने कोई उद्भावना न करके पूर्ववर्ती कवियों का ही सर्वथा अनुसरण किया है। एक रूपवती और निपुण स्त्री के साथ महिमा मंगोल का अलाउद्दीन के दरबार से भागना, अलाउद्दीन का उसे हम्मीर से वापस माँगना, हम्मीर का उसे अपनी शरण में लेने के कारण उपेक्षापूर्वक इनकार करना, ये सब बातें जोधराज तथा उसके पूर्ववर्ती नयचंद्र के

कवियों की ही कल्पना है, जो वीरगाथा काल की रूढ़ि के अनुसार की गई थी। गढ़ के घेरे के समय गढ़पति की निश्चितता और निर्भीकता व्यंजित करने के लिये पुराने कवि गढ़ के भीतर नाच रंग का होना दिखाया करते थे। जायसी ने अपनी पद्मावती में अलाउद्दीन के द्वारा चित्तौरगढ़ के घेरे जाने पर राजा रतनसेन का गढ़ के भीतर नाच कराना और शत्रु के फेंके हुए तीर से नर्त्तकी का घायल होकर मरना वर्णित किया है। ठीक उसी प्रकार का वर्णन "हम्मीरहठ" में रखा गया है। यह चंद्रशेखरजी की अपनी उद्भावना नहीं, एक बँधी हुई परिपाटी का अनुसरण है। नर्त्तकी के मारे जाने पर हम्मीरदेव का यह कह उठना कि "हठ करि मड्यो युद्ध वृथा ही" केवल उनके तात्कालिक शोक के आधिक्य की व्यंजना मात्र करता है। उसे करुण प्रलाप मात्र समझना चाहिए। इसी दृष्टि से इस प्रकार के करुण प्रलाप राम ऐसे सत्यसंध और वीरव्रती नायकों से भी कराए गए हैं। इनके द्वारा उनके चरित्र में कुछ भी लांछन लगता हुआ नहीं माना जाता।

एक त्रुटि हम्मीरहठ की अवश्य खटकती है। सब अच्छे कवियों ने प्रतिनायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़नेवाले या उसे जीतनेवाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यंजना की है। राम का प्रतिनायक रावण कैसा था? इंद्र, मरुत्, यम, सूर्य आदि सब देवताओं से सेवा लेनेवाला, पर हम्मीरहठ में अलाउद्दीन एक चुहिया के कोने में दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और पुकार मचाता है।

चंद्रशेखरजी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस में सहायक ही है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णन तथा संवाद आदि सब बड़ी मर्मज्ञता से रखे गए हैं। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत

थोरी थोरी बैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूषन बिराजत बिमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रँगी
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरतीं॥

(४३) बाबा दीनदयाल गिरि—ये गोसाईं थे। इनका जन्म शुक्रवार बसंत पंचमी संवत् १८५९ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक पाठक के कुल में हुआ था। जब ये ५ या ६ वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता इन्हें महंत कुशागिरि को सौंप चल बसे। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग में पड़नेवाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। काशी में महंतजी के और भी कई मठ थे। वे विशेषतः गायघाट वाले मठ में रहा करते थे। बाबा दीनदयाल गिरि भी उनके चेले हो जाने पर प्रायः उसी मठ में रहते थे। जब महंत कुशागिरि के मरने पर बहुत सी जायदाद नीलाम हो गई तब ये देहली-विनायक के पास मौठली गाँववाले मठ में रहने लगे। बाबाजी संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। बाबू गोपाल-चंद्र (गिरिधरदास) से इनका बड़ा स्नेह था। इनका परलोकवास संवत् १९१५ में हुआ। ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुईं। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए हुए हैं पर भाषा-शैली की सरसता और पदविन्यास की मनोहरता के विचार से वे स्वतंत्र काव्य के रूप में हैं। बाबाजी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। कहीं कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते हैं, पर बहुत कम। इसी से इनकी अन्योक्तियाँ इतनी

मर्मस्पर्शिनी हुई है। इनका अन्योक्तिकल्पद्रुम हिंदी-साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्यभावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही हैं; अध्यात्मपक्ष में भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।

बाबाजी का जैसा [illegible] पदविन्यास पर अधिकार था वैसा ही शब्द चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत सी की है। जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते हैं उसी प्रकार चमत्कार-कौशल दिखाने में भी नहीं चूकते हैं। इससे अपनी नहीं कहते बनता कि इनमें कलापक्ष प्रधान है या हृदय पक्ष। यही अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं के भीतर इन्होंने चमत्कार प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नहीं होने दिया है। अन्योक्तिकल्पद्रुम के आदि में कई श्लिष्ट पद आए हैं पर बीच में बहुत कम। इसी प्रकार अनुरागबाग में भी अधिकतर रचना शब्द वैचित्र्य आदि से मुक्त है। यद्यपि अनुप्रासयुक्त सरस कोमल पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है, पर जहाँ चमत्कार का प्रधान उद्देश्य रखकर ये बैठे हैं वहाँ श्लेष यमक अंतर्लापिका बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है। सारांश यह कि ये एक भावुक कवि थे। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इनकी लिखी इतनी पुस्तकों का पता है—

अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं १९१२) अनुराग-बाग (सं १८८८), वैराग्य-दिनेश (सं १९०६) विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टांत तरंगिणी (सं १८७९)।

इस सूची के अनुसार इनका कविता काल सं १८७९ से १९१२ तक माना जा सकता है। 'अनुराग-बाग' में श्रीकृष्ण की विविध

लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तों में वर्णन हुआ है। मालिनी छंद का भी बड़ा मधुर प्रयोग हुआ है। 'दृष्टांत-तरंगिणी' में नीति-संबंधी दोहे हैं। 'विश्वनाथ-नवरत्न' शिव की स्तुति है। 'वैराग्य-दिनेश' में एक ओर तो ऋतुओं आदि की शोभा का वर्णन है और दूसरी ओर ज्ञान-वैराग्य आदि का। इनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

केतो सोम कला करौ करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ो कठिनाई जाकी।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद! तुमही चित चेतौ।
कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥

——

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तौ ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष सत जौ जल देहै।
गरजै तरजै कहा? वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक! ह्याँ तू बरखै॥

——

चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहिं रैन बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥

——

थे। एक सवैया में इन्होंने फारसी के शब्द और वाक्य भरे हैं। इनकी रचना शृंगाररस की ही है, पर उसमें कठोर वर्णों (जैसे ट, ठ, ढ) का व्यवहार यत्र-तत्र बराबर मिलता है। ये 'प्रतिकूल-वर्णत्व' की परवा कम करते थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोमल अनुप्रासयुक्त ललित भाषा का व्यवहार इनमें नहीं है। पद-विन्यास इनका अच्छा है। इनके फुटकल कवित्त अधिकतर अंग-वर्णन के मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि इन्होंने कोई नखशिख लिखा होगा। शब्द चमत्कार पर इनका ध्यान विशेष रहता था जिससे कहीं कहीं कुछ भद्दापन आ जाता था। कुछ नमूने लीजिए—

छहरै छबीलो छटा छूटि छितिमंडल पै,
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज मंजुल-मुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तबक सी॥
फैली दीप दीप दीप-दीपति दिपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख माहताब जब
निकसी सिताब आफताब की भभक सी॥

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अग्रदस्त अलाबल जुल्फ बसे॥
मजमूए, न काफ़ शिगाफ़ रुए मम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिजगाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुक़ते, बिन बे, किन ते, किन से॥

(४५) **गिरिधरदास**—ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे और ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। इनका नाम तो बाबू गोपालचंद्र था पर कविता में अपना उपनाम थे 'गिरिधरदास', 'गिरिधर', 'गिरिधारन' रखते थे। भारतेंदु ने इनके संबंध में लिखा है कि "जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस"। इनका

जन्म पौष कृष्ण १५ संवत् १८९० को हुआ। इनके पिता बाबू हर्षचंद्र जो काशी के एक बड़े प्रतिष्ठित रईस थे, इन्हें ग्यारह वर्ष का छोड़कर ही परलोक सिधारे। इन्होंने अपने मित्र के संरक्षण में संस्कृत और हिंदी में बड़ी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तकों का एक बहुत बड़ा मनमोहक संग्रह किया। पुस्तकालय का नाम इन्होंने "सरस्वती-भवन" रखा जिसका मूल्य स्वर्गीय डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते थे। इनके यहाँ उस समय के विद्वानों और कवियों की मंडली बराबर जमी रहती थी और इनका समय अधिकतर काव्य-चर्चा में ही जाता था। इनका परलोकवास संवत् १९१७ में हुआ।

भारतेंदुजी ने इनके लिखे ४० ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमें से बहुतों का पता नहीं है। भारतेंदुजी के दौहित्र हिंदी के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत बाबू ब्रजरत्नदासजी ने अपनी देखी हुई इन ग्रंथों/पुस्तकों के नाम इस प्रकार दिए हैं—

जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण (अलंकार), भाषा-व्याकरण (पिंगल-संबंधी), रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, रामकथामृत, बलरामकथामृत (कृष्णचरित ४७०१ पदों में), बुद्धकथामृत, कल्किकथामृत, नहुष नाटक, गर्गसंहिता (कृष्णचरित का दोहे चौपाई में बड़ा ग्रंथ), एकादशी माहात्म्य।

इनके अतिरिक्त भारतेंदुजी के एक नोट के आधार पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इन ११ और पुस्तकों का उल्लेख किया है—

वाल्मीकि रामायण (सातों कांड पद्यानुवाद), छंदोर्णव पिंगल, अद्भुतरामायण, लक्ष्मीनखशिख, वार्तासंस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गयायात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवत्स्तोत्र, श्रीरामस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र, रामाष्टक, कालियकालाष्टक।

इन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएँ तो सरल और साधारण पद्यों में कही हैं, पर काव्यकौशल की दृष्टि से जो रचनाएँ की हैं—जैसे जरासंधवध, भारतीभूषण, रस-रत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन—वे यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई हैं कि बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई हैं। सबसे अधिक इन्होंने यमक और अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अनुप्रास और यमक का ऐसा विधान जैसा जरासंधवध में है और कहीं नहीं मिलेगा। जरा-संधवध अपूर्ण है, केवल ११ सर्गों तक लिखा गया है, पर अपने ढंग का अनूठा है। जो कविताएँ देखी गई हैं उनसे यही धारणा होती है कि इनका झुकाव चमत्कार की ओर अधिक था। रसात्मकता इनकी रचनाओं में वैसी नहीं पाई जाती। २७ वर्ष की ही आयु पाकर इतनी अधिक पुस्तकें लिख डालना पद्यरचना का अद्भुत अभ्यास सूचित करता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

(जरासंधवध से)

चल्यो दरद जेहि फरद रच्यो विधि मित्र-दरद हर।
सरद सरोरुह बदन जाचकन-बरद मरद वर॥
लसत सिंह मम दुरद नरद दिसि-दुरद अरद-कर।
निरखि होत अरि सरद, हरद सम जरद-कांति धर॥
कर करद करत बेपरद जब गरद मिलत बपु गाज को।
रन-जुआ-नरद बिन नृप लस्यो करद मगध-महराज को॥

सब के सब केसव के सबके हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरैं सैलन सैलहि सीस प्रहार हैं॥
'गिरिधारन' धारन सो पदकंज लै धारन लै बसु धारन फार हैं।
अरि बारन बारन बारन पै सुर-बारन बारन बारन वार हैं॥

के कवित्त काव्य-प्रेमियों में वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे पद्माकर के। ब्रज-भाषा के श्रृंगारी कवियों की परंपरा में इन्हें अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची श्रृंगार-परंपरा में ये। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल श्रृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।

इनमें बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता। अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारों के लिये इन्होंने भाषा भद्दी कहीं नहीं होने दी है ऋतु-वर्णनों में इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतुवर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिये मानो आपसे आप आगे बढ़ता था। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, बसंत! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

आधुनिक काल

(संवत् १९००—१९८०)

गद्य-खंड

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(ब्रजभाषा गद्य)

आधुनिक काल के पूर्व हिंदी गद्य का अस्तित्व किस परिमाण और किस रूप में था, संक्षेप में इसका विचार कर लेना चाहिए। अब तक साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही है, इसे सूचित करने की आवश्यकता नहीं। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिंदी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबंध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रंथ मिले हैं जिनका निर्माणकाल संवत् १४ ७ के आसपास है। किसी किसी पुस्तक में निर्माणकाल दिया हुआ है। एक पुस्तक गद्य में भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिया' 'कहिया' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इससे गद्य को हम संवत् १४   के आसपास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना मान सकते हैं। थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

("श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद, आनंदस्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ ? आत्मज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।"

इसे हम निश्चयपूर्वक ब्रजभाषा का पुराना रूप मान सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का "कथभूती" अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना।

इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति-शाखा के भीतर गद्य ग्रंथ मिलते हैं। श्रीवल्लभाचार्य्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने 'शृंगाररस मंडन' नामक एक ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखा। उनकी भाषा का स्वरूप देखिए—

("प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ट रसना कीनो सो पूर्ण होत भई॥"

यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर इसके पीछे दो और सांप्रदायिक ग्रंथ लिखे गए जो बड़े भी हैं और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित और चलती है। वल्लभ संप्रदाय में इनका अच्छा प्रचार है। इनके नाम हैं—"चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता"। इनमें से प्रथम, आचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्यजी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है, क्योंकि इसमें गोकुलनाथजी का कई जगह बड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों और आचार्य्यजी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका

रचनाकाल विक्रम की १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है। इन वार्त्ताओं की कथाएँ बोलचाल की ब्रजभाषा में लिखी गई हैं जिनमें कहीं कहीं बहुत प्रचलित अरबी फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिये यह उद्धृत अंश पर्याप्त होगा—

"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो'।"

नाभादासजी ने भी संवत् १६६ के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी जिसमें भगवान् राम की दिनचर्या का वर्णन है। भाषा इस ढंग की है—

'तब श्री महाराज-कुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए।'

संवत् १६८ के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने, जो ओरछा के महाराज जसवंतसिंह के यहाँ थे, ब्रजभाषा गद्य में 'अगहन-माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' नाम की दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। द्वितीय के संबंध में ये लिखते हैं—

"सब देवतन की कृपा तें वैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढिबे के अरथ यह जसरूप ग्रंथ वैसाख-महातम भाषा करत भए।—एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

ब्रजभाषा गद्य में लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है जिसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं। समय संवत् १७६० के उपरांत है। भाषा व्यवस्थित है—

"हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जम किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े बड़े ग्रंध्र देखे। पंथ में पापकर्मी कौं जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोह के दंड कर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।"

सूरति मिश्र ने (संवत् १७६७) संस्कृत से कथा लेकर बैताल-पचीसी लिखी जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिंदुस्तानी में किया। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने संवत् १८५२ में "आईन अकबरी की भाषा वचनिका" नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी। भाषा इसकी बोलचाल की है जिसमें अरबी-फ़ारसी के कुछ बहुत चलते शब्द भी हैं। नमूना यह है—

"अब शेख अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ़ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराक्रम अरु भाँति भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए, ता को संखेप लिखत हौं।"

इसी प्रकार की ब्रजभाषा गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। साहित्य की रचना पद्य में ही होती रही। गद्य का भी विकास यदि होता आता

तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ में भाषा-संबंधिनी बड़ी विकट समस्या उपस्थित होती। जिस बड़ाके के साथ गद्य के लिये खड़ी बोली ले ली गई उस बड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ काल तक विचार और वाद विवाद में जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त "वैष्णव वार्ताओं" में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यमरः" और "कर्ण भूषण" वाली टीकाओं की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और अव्यवस्थित होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की लिखी 'शृंगार शतक' की एक टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते — यदंगनाः
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥"

अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश कर। जु कार्य करन चाहति है ता कार्य्य विषे। ब्रह्माऊ। प्रत्यूह आधातुं। अंतराय कीबे कहँ। कातर। कादर है। कादर कहावै असमर्थ।

जु कछु स्त्री कर्‌यो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अतराउ ब्रह्मा पहँ न कर्‌यो जाइ और की कितीक वात"।

आगे बढकर सवत् १८७२ की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हस सवल असु सहित मानहु उडि कै गयो॥"

"सबल कहैं अनेक रग मिश्रित हैं, असु कहैं किरण जा के ऐसे जे सूर्य्य हैं तिन सहित मानो कलिदगिरि शृग तें हस कहैं हंस समूह उडि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है। हसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रग नग-जटित मुकुट हैं"।

इसी ढँग की सारी टीकाओं की भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल में हुए हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओं की भाषा और भी अनगढ और असबद्ध है। साराश यह है कि जिस समय गद्य के लिये खड़ी बोली उठ खडी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था, उसका कोई साहित्य नहीं खड़ा हुआ था। इसी से खड़ी बोली के ग्रहण में कोई सकोच नहीं हुआ।

खड़ी बोली का गद्य

देश के भिन्न भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ साथ ख़ालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरगज़ेब के समय से फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेख़ता में शायरी भी शुरू हो

गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मोगल-साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाँही शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठी थीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू शायर पूरब की ओर आने लगे उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार में उद्योगशील नहीं होते। अतः धीरे धीरे पूरब के शहरों में भी इन पश्चिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी; मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह से आई हुई जातियों के घरों में बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी-गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकाल कर गढ़ ली गई शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की—जो संवत् १९ के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था, यह दिखाया जा चुका है।

भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंशकाव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। जैसे—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि ! महारा कंतु।

——

अइ्भिग्गि पत्तो, नइहिं जलु, तो विन वूहा हत्थ।

——

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ कोण मिटाआ ?

उसके उपरांत भक्तिकाल के आरंभ में निर्गुण धारा के संत कवि किस प्रकार खड़ी बोली का व्यवहार अपनी 'सधुक्कड़ी' भाषा में किया करते थे, इसका उल्लेख भक्तिकाल के भीतर हो चुका है*। कबीरदास के ये वचन लीजिए—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।

——

कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा, नहिंतर भला न होइ॥

——

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद रम रम रहूँगा।

---

* देखो पृ० ७९।

अकबर के समय में गंग कवि ने "चंद-छंद बरनन की महिमा" नामक एक गद्य-पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

"सिद्धि श्री १ ८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपति श्री अकबरसाह जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

× × × ×

इतना सुनके पातसाहिजी श्रीअकबरसाहिजी आद सेर सोना नरहर दास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस अवतरण से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशों में शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती; यह हिंदी खड़ी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य-भाषा के रूप में स्वीकृत न होने के कारण इसमें अधिक रचना नहीं पाई जाती पर यह बात नहीं है कि इसमें ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट-समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा तभी से इधर उधर कुछ पुस्तकें इस भाषा के गद्य में लिखी जाने लगीं।

विक्रम संवत् १७९८ में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नाम का गद्य ग्रंथ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे

परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'योगवासिष्ठ' ही सब से पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है अत. जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ गद्य-लेखक मान सकते हैं। 'योगवासिष्ठ' से दो उदरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनद के समुद्र के कण से सपूर्ण विश्व आनदमय है, जिस आनद से सब जीव जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक सदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक सदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कम से अत करण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अत करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

(ख) "हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्म

तत्व को देखो तब निश्चय अमर होगे और आत्मपद को प्राप्त होकर फिर जन्म-मरण के बंधन में न आओगे।"

कैसी परिमार्जित, साधु और व्यवस्थित भाषा है।

इसके पीछे संवत् १८१८ में बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठों से ऊपर का एक बड़ा ग्रंथ है। भाषा इसकी उपर्युक्त 'योग-वाशिष्ठ' के समान परिमार्जित नहीं है, पर इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई संपर्क न रखनेवाली अधिकांश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। मध्यप्रदेश पर फारसी या उर्दू की तालीम कभी नहीं लादी गई थी और जैन-समाज जिसके लिए यह ग्रंथ लिखा गया अपने व्यापार से सर्वत्र रहनेवाला समाज रहा है। खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया उससे सर्वथा स्वतंत्र वह अपने प्रकृत रूप में भी दो सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम में आ रही है, यह बात 'योगवाशिष्ठ' और 'पद्मपुराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे हैं। अतः यह कहने की गुंजाइश अब ज़रा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अंगरेजों की प्रेरणा से चली। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप यह है—

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।

आगे चलकर संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन" लिखा था जिसकी भाषा साहित्य की नहीं, साधारण बोलचाल की है जैसे—

"अगस्त में यहाँ माँडव्य रिषी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माडव्याश्रम हुआ। इस सबद का बिगाड़ कर मंडोवर हुआ है।

ऊपर जो कहा गया कि खड़ी बोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य में नहीं हुआ था, उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन में साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ या मुकरियाँ कहीं। हाँ, फ़ारसी पद्य में खड़ी बोली को ढालने का खुसरो का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अँगरेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे।

जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली में तत्सम शब्द भी मिले रहते थे।

रीतिकाल के समाप्त होते होते अँगरेज़ी राज्य देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः अँगरेज़ों के लिये यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

अँगरेज़ यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसी लिये जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिंदी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं और न हिंदी में। जिस समय फोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिंदी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं।

'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' का उल्लेख हो चुका है। उसके उपरांत जब अँगरेज़ों की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेशवाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। अतः यह कहना कि अँगरेज़ों की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों में फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय से लोगों का ध्यान

उसमें गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिंदी और उर्दू दोनों का साहित्य पद्यमय ही था। हिंदी-कविता में परपरागत काव्यभाषा व्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू-कविता में खड़ी बोली के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारों ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ गई और हिंदी-गद्य के लिये उसके ग्रहण में सफलता की सभावना दिखाई पड़ी।

इसी लिये जब सवत् १८६० में फ़ोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिंदी-उर्दू अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों के लिये अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतत्र हिंदी खड़ी बोली का अस्तित्व सामान्य शिष्ट भाषा के रूप में पाया। फ़ोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अत खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढानेवाले चार महानुभाव हुए हैं—मुशी सदासुखलाल, सैयद इशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों लेखक सवत् १८६० के आसपास हुए।

(१) मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म सवत् १८०३ और मृत्यु १८८१ में हुई। सवत् १८५० के लगभग ये कंपनी की अधीनता में चुनार (जिला मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत सी किताबें लिखी हैं और काफी शायरी की है। अपनी "मुतख़बुत्तवारीख़" में अपने सबंध में इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि ६५ वर्ष की अवस्था में ये नौकरी छोडकर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन में बिताई। उक्त पुस्तक सवत् १८७५ में समाप्त हुई जिसके ६ वर्ष उपरांत इनका परलोकवास हुआ। मुशीजी ने

विष्णुपुराण से कोई उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलनेवाला गद्य जैसा 'योगवासिष्ठ' का था वैसा ही मुंशीजी की इस पुस्तक में दिखाई पड़ा। उसका थोड़ा सा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अंगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त आदमी थे। अपने समय में उन्होंने हिंदुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रांतों में भी—प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जबान थे पर उन्होंने अपने हिंदी गद्य में कथा-वाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था। इसी संस्कृतमिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाखा'

कहते थे, जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

सारांश यह कि मुंशीजी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली। इन प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए"। "बहुत जाघा चूक हुई"। "उन्हीं लोगों से धन आवै है"। "जो बात सत्य होय"।

काशी पूरब में है पर यहाँ के पंडित सैकड़ों वर्ष से 'होयगा' 'आवता है' 'इस करके' आदि बोलते चले आते हैं। ये सब बातें उर्दू से स्वतंत्र खड़ी बोली के प्रचार की सूचना देती हैं।

(२) इंशाअल्लाखाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशा-अल्लाखाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोगल-सम्राट् की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही में इंशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला मारे गए और बंगाल में अंधेर मचा तब इंशा, जो पढ़-लिखकर अच्छे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि हो चुके थे, दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार में रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी बड़े बड़े नामी शायरों को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलाम-कादिर बादशाह को अंधा करके शाही खजाना लूटकर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली में कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् १८५५ में नवाब सआदत अलीखाँ गद्दी पर बैठे तब ये उनके दरबार में आने जाने लगे। बहुत दिनों तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत में एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया और इनके

जीवन का अंतिम भाग बड़े कष्ट में बीता। संवत् १८८५ में इनकी मृत्यु हुई।

इंशा ने "उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और १८६० के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते हैं—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। × × × अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे पुराने धुराने, डाँग बूढ़े घाग यह खटराग लाए और लगे कहने यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था जिसमें हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। उद्धृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग 'भाखा' शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिंदी भाषा के लिये करते थे जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे—चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत मिश्रित हिंदी को ही उर्दू फारसीवाले 'भाखा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी फारसी मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'। भाषा का तात्त्विक दृष्टि से विचार न करनेवाले या उर्दू की ही तालीम खास तौर पर पानेवाले कई नए पुराने हिंदी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर में पड़कर ब्रजभाषा को हिंदी कहने में संकोच करते हैं। 'खड़ीबोली-

पद्य" का झंडा लेकर घूमनेवाले स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूमकर कहा करते थे कि अभी हिंदी में कविता हुई कहाँ, "सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है, हिंदी नहीं"। संभव है इस सड़े-गले खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों।

इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—

बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी। गँवारी = ब्रजभाषा, अवधी आदि। भाखापन = संस्कृत के शब्दों का मेल।

इस बिलगाव से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने "भाखापन" और "मुअल्लापन" दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया, पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत में कुछ लगी रह गई। फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं, विशेषत. बड़े वाक्यों में, आ ही गया है, पर बहुत कम। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया"।

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को"।

"यह चिट्ठी जो पीकभरी कुँवर तक जा पहुँची"।

आरंभ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली मटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ी बोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दूवालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे*। मुंशी सदासुखलाल भी खास

* अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफ़िल में आते हैं।

दिल्ली के थे और उर्दू-साहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे जनभाव से जान बूझकर अपनी भाषा गंभीर और स्वच्छ रखना चाहते थे। अनुप्रास विराम भी इंशा के गद्य में बहुत स्थानों पर मिलते हैं—जैसे

'जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।

इंशा के समय तक वर्तमान कृदंत या विशेषण और विशेष्य के बीच का समानाधिकरण कुछ बना हुआ था जो उनके गद्य में जगह जगह पाया जाता है; जैसे—

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं।

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विलक्षणताओं के होते हुए भी इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी उनका सजीव रखे हैं। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए—

'इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी"।

(१) लल्लूलालजी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८२० में और मृत्यु संवत् १८८२ में हुई। संवत्

के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते पर भाषा-कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी कुछ जानते थे। संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली-गद्य में "प्रेमसागर" लिखा जिसमें भागवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिंदी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी-फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत हिंदी जाननेवाले के लिये पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडितजी का स्मरण है जो 'लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे पर 'कलेजा' और 'बैंगन' शब्दों को म्लेच्छ भाषा के समझ बचाते थे। लल्लूलालजी अनजान में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फारसी या तुरकी के हैं। जैसे बैरख' शब्द तुरकी का बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है। देखिए—

'शिवजी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय।" पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आए हैं।

यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत-मिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उसमें बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है मुंशीजी की भाषा साफ सुथरी खड़ी बोली है पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी ब्रजरंजित खड़ी बोली है। 'सन्मुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजो' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर उधर फारसी-अरबी

के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द नहीं रखे हैं। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है। विरामों पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णनों में वाक्य भी बड़े बड़े आए हैं और अनुप्रास भी जगह-जगह हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलालजी का काव्याभास-गद्य भक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य व्यवहार के अनुकूल है न संबद्ध विचारधारा के योग्य। प्रेमसागर से दो नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव जंतुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।

"इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वतीजी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय, तांडव नाच नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।

× × × ×

जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबिछीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई देख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिंदी और ब्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। ब्रजभाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिंदी गद्य में लिखने के लिए इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले की चारों पुस्तकें बिल्कुल उर्दू में हैं। इनके अतिरिक्त सं० १८६९ में इन्होंने "राजनीति" के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य में लिखी जा चुकी थीं) ब्रजभाषा-गद्य में लिखीं। माधव-विलास और सभाविलास नामक ब्रजभाषा पद्य के संग्रहग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे। इनकी 'लालचंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध है। इन्होंने अपना एक निज का प्रेस कलकत्ते में (पटलडाँगे में) खोला था जिसे ये सं० १८८१ में फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमाकर ये एक बार फिर कलकत्ते गए जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होंने "संस्कृत प्रेस" रखा था, जिसमें अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तकों की लोग बहुत कदर करते थे।

(४) सदल मिश्र—ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्ट विलियम कालेज में ये भी काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की उसी प्रकार इन्होंने भी। इनका "नासिकेतोपाख्यान" भी उसी समय लिखा गया जिस समय 'प्रेमसागर'। पर दोनों की भाषा में बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान स्थान पर [illegible]। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लि[illegible] का प्रयत्न किया [illegible] तक हो सका है खड़ी बोली का ही

हार किया है। पर इसकी भाषा भी साफ सुथरी नहीं है। ब्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं। "फूलन्ह के बिछौने" "चहुँदिस" "सुनि" "सोनन्ह के थम" आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। "इहाँ" "मतारी" "बरते हैं" "जुड़ाई" "बाजने लगा" "जौन" आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिये "नासिकेतोपाख्यान" से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ ब्राह्मण माता पिता मित्र बालक स्त्री स्वामी वृद्ध गुरु इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो मातापिता की हित बात को नहीं सुनते सब से बैर करते हैं ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।

गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिंदी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुख और लल्लूलाल की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई। अतः गद्य का प्रवर्तन करनेवालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य का प्रवर्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर उधर दो चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा में लिखी कोई पुस्तक संवत् १९१५ के पूर्व की नहीं मिलती। संवत् १८८१ में किसी ने

"गोरा बादल री बात" का, जिसे राजस्थानी पद्यों में जटमल ने संवत् १६८० में लिखा था, खड़ी बोली के गद्य में अनुवाद किया। अनुवाद का थोड़ा सा अंश देखिए—

"गोरा बादल की कथा गुरु के बस, सरस्वती के मेहरबानगी से, पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस है—बीररस व सिंगाररस है, सो कथा मोरछड़ो नाँव गाँव का रहनेवाला कबेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी है। घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं।"

संवत् १८६० और १९१५ के बीच का काल गद्य-रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य ही मिलता है। संवत् १९१४ के बलवे के पीछे ही हिंदी गद्य-साहित्य की परंपरा अच्छी तरह चली।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म प्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे (William Carey) तथा और कई अँगरेज़ पादरियों के उद्योग से इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिंदी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। संवत् १८६६ में उन्होंने "नए धर्म-नियम" का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत् १८७५ में समग्र ईसाई-धर्म-पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी-अरबी-मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण

करती सुनती आती थी उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते हैं उससे साधारण जनसमुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अंग्रेजों को उत्तर भारत में रहकर केवल मुंशियों और खानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयों ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा में फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिए हैं और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए हैं। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमें जो कुछ विलक्षणता सी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्यरचना और शैली के कारण। प्रेमसागर के समान ईसाई धर्मपुस्तक में भी 'करनेवाले' के स्थान पर 'करनहारे' 'तक' के स्थान पर 'लौं' 'कमरबंद' के स्थान पर 'पटुका' प्रयुक्त हुए हैं। पर लल्लूलाल के इतना ब्रजभाषापन नहीं आने पाया है। 'आय' 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके' 'जाके' व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि ईसाई मतप्रचारकों ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे दिया जाता है —

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यरदन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कहके उसे बरजने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिये स्वर्ग खुल

गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

इसके आगे ईसाइयों की पुस्तकें और पैंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त "सिरामपुर प्रेस" से संवत् १८९३ में "दाऊद के गीतें" नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फारसी अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों में बालकों की शिक्षा के लिये ईसाइयों के छोटे-मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें भी निकलने लगीं। इन पुस्तकों की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्जापुर, मुँगेर आदि उस समय ईसाइयों के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अँगरेजी की शिक्षा के लिये कई स्थानों पर स्कूल और कालेज खुल चुके थे जिनमें अँगरेजी के साथ हिंदी, उर्दू की पढाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों की माँग संवत् १९०० के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये संवत् १८९० के लगभग आगरे में पादरियों की एक "स्कूल बुक सोसाइटी" स्थापित हुई थी जिसने संवत् १८९४ में इँगलैंड के एक इतिहास का और संवत् १८९६ में मार्शमेन साहब के "प्राचीन इतिहास' का अनुवाद "कथासार" के नाम से प्रकाशित किया। "कथासार" के लेखक या अनुवादक पंडित रतनलाल थे। इसके संपादक पादरी मूर साहब (J. J. Moore) ने अपने छोटे से अँगरेजी वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग "वर्तमान इतिहास" भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक की विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना यह है—

"परंतु शासन की इन सर्वोत्तम व्यवस्थाओं से विरोध शमन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्षोभ न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण यह क्रूर अत्याचारी कहाया तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

आगरे की उक्त सोसाइटी के लिये संवत् १८९७ में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' और संवत् १९०४ में पंडित बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायनप्रकाश' लिखा। कलकत्ते में भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक-सोसाइटी थी जिसने "पदार्थविद्यासार" (संवत् १९०१) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी मिशनरियों के छापेखानों से निकली थीं—जैसे 'आजमगढ़ रीडर' जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् १८९७ में प्रकाशित हुई थी।

इसके कुछ पहले ही मिर्जापुर में ईसाइयों का एक 'आरफेन प्रेस' खुला था जिससे शिक्षा-संबंधिनी कई पुस्तकें शेरिंग साहब के संपादन में निकली थीं जैसे—भूचरित्रदर्पण, भूगोल विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासागर, विद्वान् संग्रह। ये पुस्तकें संवत् १९१२ और १९१९ के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियों के द्वारा बराबर विशुद्ध हिंदी में पुस्तकें और पैम्फ्लेट आदि छपते आ रहे हैं जिनमें कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते हैं। भजन रचनेवाले कई अच्छे ईसाई कवि हो गए हैं जिनमें से एक अँगरेज भी हैं। "आसी" और "जान" के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि हिंदी-गद्य के प्रचार में ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें तो पहले पहल उन्हीं ने तैयार कीं। इन बातों के लिये हिंदी-प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचार कार्य का प्रभाव हिंदुओं की जन-संख्या पर ही पड़ रहा था। अतः हिंदुओं के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्मरक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिंदू-धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल में राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदांत का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खड़े हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े लिखे लोगों में से बहुतों के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति पाँति, छूआ-छूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अतः राममोहन राय ने इन बातों को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्त्तन करने के लिये 'ब्रह्म-समाज' की नींव डाली। संवत् १८७२ में उन्होंने वेदांत सूत्रों के भाष्य का हिंदी-अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। संवत् १८८६ में उन्होंने "बंगदूत" नाम का एक संवादपत्र भी हिंदी में निकाला। राजा साहब की भाषा में एक आध जगह कुछ बँगलापन जरूर मिलता है, पर उसका रूप अधिकांश में वही है जो शास्त्रज्ञ विद्वानों के व्यवहार में आता था। नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मणधर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्रीजी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं"।

कई नगरों में, जिनमें कलकत्ता मुख्य था, अब छापेखाने हो गए थे। बंगाल से कुछ अँगरेजी और कुछ बँगला के पत्र भी निकलने लगे थे जिनके पढ़नेवाले भी हो गए थे। इस परिस्थिति में पं० जुगुल-किशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, संवत् १८८३ में "उदंत-मार्त्तंड" नाम का एक संवादपत्र निकाला जिसे हिंदी का पहला समाचारपत्र समझना चाहिए जैसा कि उसके इस लेख से प्रकट होता है—

कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवधबिहारी बादशाह के जाने के लिये कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबदी हुई और बादशाह बड़े ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गए।

रीति-काल के समाप्त होते होते अँगरेजी राज्य देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ ही साथ देश वासियों की शिक्षाविधि में भी परिवर्तन हो चला। अँगरेज सरकार ने अँगरेज़ी की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। सवत् १८५४ में ही ईस्ट इडिया कपनी के डाइरेक्टरों के पास अँगरेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अँगरेज़ी की पढाई के लिये कलकत्ते में हिंदू कालेज की स्थापना हुई जिसमें से लोग अँगरेज़ी पढ पढ कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी भाषा पढकर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों को न था। अँगरेज़ी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी पर। सस्कृत की पाठशालाओं और अरबी के मदरसों को कपनी की सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी। पर अँगरेजी के शौक़ के सामने इन पुरानी सस्थाओं की ओर से लोग उदासीन होने लगे। इनको जो सहायता मिलती थी धीरे धीरे वह भी बद हो गई। कुछ लोगों ने इन प्राचीन भाषाओं की शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था पर मेकाले ने अँगरेजी भाषा की शिक्षा का इतने जोरों के साथ समर्थन किया और पूरबी साहित्य के प्रति ऐसी उपेक्षा प्रकट की कि अत में सवत् १८९२ (मार्च ७ सन् १८३५) में कंपनी की सरकार ने अँगरेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे धीरे अँगरेज़ी के स्कूल खुलने लगे।

हुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अपनी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिंदी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।

इस इश्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिंदी' हो हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ़्तरों में हिंदी रहने न पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका चक्र बराबर चलता रहा यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई०) में उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ़्तरों की भाषा कर दी गई।

सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान-मर्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देश-भाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिंदी की काव्य-परंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय में चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नवशिक्षित लोगों का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय में साधारण जनता के साथ साथ उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की भी जो थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की ओर बनी हुई थी वह धर्मभाव से। तुलसीकृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदासजी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव "भाखा" से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य से नवशिक्षित लोगों का अधिकांश

कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था। शृंगाररस की भाषा-कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

संवत् १९०२ में यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में नहीं आए थे पर विद्याव्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अतः इधर उधर दूसरी भाषाओं में समाचार पत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् में उद्योग करके काशी से "बनारस अखबार" निकलवाया। पर अखबार पढ़नेवाले पहले-पहल नवशिक्षितों में ही मिल सकते थे जिनकी लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। अतः इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया कागज पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिंदी की कुछ सूरत पैदा करने के लिये बीच बीच में 'धर्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिए जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाज नीचे उद्धृत अंश से लग सकता है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है।... देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा

और हर तरह से लायक़ तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

इस भाषा को लोग हिंदी कैसे समझ सकते थे! अतः काशी से ही एक दूसरा पत्र "सुधाकर" बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से संवत् १६०७ में निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी सुधाकरजी का नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिए ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकरजी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुधरी हुई तथा ठीक हिंदी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् १६०६ में आगरे से मुंशी सदासुखलाल के प्रबंध और संपादन में "बुद्धिप्रकाश" निकला जो कई वर्ष तक चलता रहा। "बुद्धिप्रकाश" की भाषा उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए—

"कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश में बहुतों पर प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न मृत्यु रोगी को गंगा तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिये उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल, हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरल सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की २० वीं शताब्दी के आरंभ के पहले से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिंदी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी उसमें पुस्तकें छपने लगीं अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। अब अँगरेज़ सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिंदी को अदालतों से निकलवाने में मुसलमानों को सफलता हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे कि हिंदी को शिक्षा-क्रम में भी स्थान न मिले उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए। अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जब जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिंदी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक रखा जाय तब प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। यहाँ तक कि तंग आकर सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने संवत् १९०५ (सन् १८४८) में यह सूचना निकाली—

देशी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ़्तरी ज़बान नहीं है हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।

हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। संवत् १९११ के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबंध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिंदी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोध के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अँगरेज़ों के बीच बड़ा मान था। वे हिंदी को एक 'गँवारी बोली' बताकर अँगरेज़ों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। इस प्रांत के हिंदुओं में राजा शिवप्रसाद अँगरेज़ों के उसी ढंग के कृपापात्र

थे जिस ढग के सर सैयद अहमद। अत. हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे बराबर इस सबंध में यत्नशील रहे। इससे हिंदी-उर्दू का झगडा बीसों वर्ष तक—भारतेंदु के समय तक—चलता रहा।

गार्साँ द तासी एक फरासीसी विद्वान् थे जो पैरिस में हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उन्होंने सवत् १८९६ में 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा था जिसमें उर्दू के कवियों के साथ हिंदी के भी कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियो का उल्लेख था। सवत् १९०९ (५ दिसबर सन् १८५२) के अपने व्याख्यान में उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं की युगपद् सत्ता इन शब्दों में स्वाकार की थी—

"उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब सयुक्त प्रांत) की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिंदी भी उर्दू के साथ साथ उसी तरह बनी है जिस तरह वह फ़ारसी के साथ थी। बात यह है कि मुसलमान बादशाह सदा से एक हिंदी सेक्रेटरी, जो हिंदी-नवीस कहलाता था और एक फ़ारसी सेक्रेटरी, जिसको फ़ारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे, जिसमें उनकी आज्ञाएँ दोनों भाषाओं में लिखी जायँ। इस प्रकार अँगरेज़ सरकार पश्चिमोत्तर-प्रदेश में हिंदू जनता के लाभ के लिये प्राय सरकारी क़ानूनों का नागरी अक्षरों में हिंदी-अनुवाद भी उर्दू क़ानूनी पुस्तकों के साथ साथ देती है"।

तासी के व्याख्यानों से पता लगता है कि उर्दू के अदालती भाषा नियत हो जाने पर कुछ दिन सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में भी क़ानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिंदी अनुवाद छपते रहे। जान पड़ता है कि उर्दू के पक्षपातियो का ज़ोर जब बढा तब उनका छपना एकदम बंद हो गया। जैसा कि अभी कह आए हैं राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु के समय तक हिंदी-

उर्दू का झगड़ा चलता रहा। गार्सां द तासी ने भी फ्रांस में बैठे बैठे इस झगड़े में योग दिया। वे अरबी-फारसी के जानकार और हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उस समय के अधिकांश और यूरोपियनों के समान उनका भी मजहबी संस्कार प्रबल था। जहाँ जब हिंदी-उर्दू का सवाल उठा तब सर सैयद अहमद जो अंगरेजों से मेल जोल रखने की विद्या में एक ही थे हिंदी-विरोध में और बढ़ आगे के लिये मजहबी नुसखा भी काम में लाए। अंगरेजों को सुझाया गया कि हिंदी हिंदुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अँगरेजों का मजहबी रिश्ता है—दोनों 'सामी' या पैगंबरी मत को माननेवाले हैं।

जिस गार्सां द तासी ने संवत् १९ ९ के आसपास हिंदी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक समझा था और कभी कहा था कि—

"यद्यपि मैं खुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिंदी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।"

वही गार्सां द तासी आगे चलकर मजहबी कट्टरपन की प्रेरणा से सर सैयद अहमद की भरपेट तारीफ करके हिंदी के संबंध में फरमाते हैं—

"इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली (dialect) की सी रह गई है जो हर गाँव में अलग अलग ढंग से बोली जाती है।"

हिंदी-उर्दू का झगड़ा उठने पर अपने मजहबी रिश्ते के सबब से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा—

"हिंदी में हिंदू धर्म का आभास है—वह हिंदू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है

इसलिये इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं"।

संवत् १९२७ के अपने व्याख्यान में गार्सां द तासी ने साफ़ खोल कर कहा—

"मैं सैयद अहमद ख़ाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की तारीफ़ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा का भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिंदू लोग मूर्त्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

परंपरा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन कैसे कैसे भावों की प्रेरणा से किया जाता रहा है, यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिंदी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान में देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य-साहित्य तो प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच तान आरंभ हुई। इसी खींच-तान के समय में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।

———

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

जिस प्रकार हिंदी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू ही लिखी जाने लगी थी इसकी चर्चा 'बनारस अखबार' के संबंध में कर आए हैं।* संवत् १९१३ में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय और दूसरे विभागों के समान शिक्षा-विभाग में भी मुसलमानों का जोर था जिनके मन में "भाखापन" का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये "भाखा" संस्कृत से लगाव रखनेवाली हिंदी न सीखनी पड़े। अतः उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की भी पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और जबान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' में हिंदुओं की कथा-वार्ता आदि कहते हुए वे हिंदी को हिंदुओं की मजहबी ज़बान कहने लगे थे। उनमें से कुछ लोग हिंदी को 'गँवारी बोली' भी कहा करते थे। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब मुसलमान उसे 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये उस समय यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया

---

* देखो पृ० [illegible]

जाय जिसमें कुछ फारसी-अरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस समय साहित्य के कोर्स के लिये पुस्तकें नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने में लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रों को भी उन्होंने पुस्तकें लिखने में लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं—जैसे, राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों को कोड़ा, इत्यादि। संवत् १९०९ और १९१९ के बीच शिक्षा संबंधी अनेक पुस्तकें हिंदी में निकलीं जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

पं० वंशीधर ने, जो आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे, हिंदी-उर्दू का एक पत्र निकाला था जिसके हिंदी कालम का नाम "भारत खंडामृत" और उर्दू कालम का नाम "आबेहयात" था। उनकी लिखी पुस्तकों के नाम ये हैं—

(१) पुष्पवाटिका (गुलिस्ताँ के एक अंश का अनुवाद सं० १९०९)

(२) भारतवर्षीय इतिहास (सं० १९१३)

(३) जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र की पुस्तक सं० १९१३)

(४) जगत् वृत्तांत (सं० १९१५)

पं० श्रीलाल ने संवत् १९०९ में 'पत्रमालिका' बनाई। गार्साँ द तासी ने इन्हें कई एक पुस्तकों का लेखक कहा है।

बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का हिंदी-अनुवाद सं० १९१९ में किया।

पं० बद्रीलाल ने डाक्टर बैलंटाइन के परामर्श के अनुसार सं० १९१९ में 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमें बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष 'सिद्धांत-संग्रह' (न्याय-शास्त्र) और 'उपदेश पुष्पवती' नाम की दो और पुस्तकें निकली थीं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राजा साहब ने जो पुस्तकें लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिंदी में थीं, उनमें वह उर्दूपन नहीं आया था जो उनकी पिछली किताबों (इतिहास-तिमिरनाशक आदि) में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

'वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।

अपने 'मानवधर्मसार' की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृत-गर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धृत अंश से लगेगा—

मनुस्मृति हिंदुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है। × × × × × खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहला के अपने मानव धर्मशास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें"।

"मानवधर्मसार" की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में जो साहित्य की पाठ्य-

पुस्तक थी, उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अँगरेज अधिकारियों का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो, संवत् १९१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। "इतिहासतिमिरनाशक" भाग २ की अँगरेजी भूमिका में, जो सन् १८६४ की लिखी है, राजा साहब ने साफ़ लिखा है कि "मैंने 'बैताल-पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है"—

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population × × × I have adopted, to a certain extent, the language of the Baital Pachisi"

लल्लूलालजी के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि 'बैताल-पचीसी' की भाषा बिल्कुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दूवाले पिछले सिद्धांत का "भाषा का इतिहास" नामक जिस लेख में निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा का एक खास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फ़हम और खास-पसंद हों अर्थात् जिनको ज़्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिम फ़ाज़िल, पंडित विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हरगिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ; जब तक कि हम लोगों को उनके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है या जो है अच्छा नहीं है या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और खास ज़रूरत साबित हो जाय।"

भाषा-संबंधी जिस सिद्धांत का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक है पाठक आप समझ सकते हैं। 'आम-फ़हम' 'ख़ास-पसंद' 'इल्मी ज़रूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फ़ारसी के 'आलिम-फ़ाज़िल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत हिंदी के 'पंडित विद्वान्' तो ऐसे शब्दों से कोसों दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति-परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप-रंग आचार व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों के थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो अविकल साहित्यिक रूप हजारों वर्ष से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति-विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् १९१८ में "प्रजाहितैषी" नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में "अभिज्ञान-शाकुंतल" का अनुवाद

बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बडी प्रशसा हुई और भाषा के सबध में मानो फिर से लोगों की आँख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी—

"अनसूया—(हौले प्रियवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनो के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीडित किया है?'

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत सस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुए है। रघुवश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंहजी ने भाषा के सबध में अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानो और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में सस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी पारसी के। परतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दो के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।"

अब भारत की देशभाषाओं के अध्ययन की ओर इँगलैंड के लोगों का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका था। उनमें जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखड भारतीय साहित्य परपरा और भाषा परपरा से अभिज्ञ हो गए थे, उनपर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। ऐसे अँगरेज़ विद्वानों में फ्रेडरिक पिन्काट का स्मरण हिंदी प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म सवत् १८९३ में इँगलैंड

में हुआ। उन्होंने प्रेस के कामों का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत में लंदन की प्रसिद्ध ऐलन एंड कम्पनी (W H Allen & Co., 13 Waterloo Place Pall Mall S W) के विशाल छापेखाने के मैनेजर हुए। वहीं वे अपने जीवन के अंतिम दिनों के कुछ पहले तक शांतिपूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिये बराबर उद्योग करते रहे।

संस्कृत की चर्चा पिन्काट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया। इसके उपरांत उन्होंने हिंदी और उर्दू का अभ्यास किया। इंग्लैंड में बैठे ही बैठे उन्होंने इन दोनों भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमें लेख और पुस्तकें लिखने और उन्हें प्रेस में छपाने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था पर उन्हें इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परंपरागत प्रकृत भाषा हिंदी है, अतः जीवन भर वे उसी की सेवा और हित-साधना में तत्पर रहे। उनके हिंदी लेखों, कविताओं और पुस्तकों की चर्चा आगे चलकर भारतेंदु काल के भीतर की जायगी।

संवत् १९४७ में उन्होंने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से संबंध तोड़ा और गिलबर्ट ऐंड रिविंगटन (Gilbert and Rivington, Clerkenwell London) नामक विख्यात व्यवसाय-कार्यालय में पूर्वीय मंत्री (Oriental adviser and expert) नियुक्त हुए। उक्त कंपनी की ओर से एक व्यापारी पत्र "आईना सौदागरी" उर्दू में निकलता था जिसका संपादन पिन्काट साहब करते थे। उन्होंने उसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के लिये भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के लेख वे ही लिखते थे। लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान में प्रकाशित होनेवाले हिंदी-समाचारपत्रों

(जैसे, हिंदोस्तान, आर्य्यदर्पण, भारतमित्र) से उद्धरण भी उस पत्र के हिंदी-विभाग में रहते थे।

भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि हिंदी-लेखकों से उनका बराबर हिंदी में पत्र-व्यवहार रहता था। उस समय के प्रत्येक हिंदी-लेखक के घर में पिन्काट साहब के दो-चार पत्र मिलेंगे। हिंदी के लेखकों और ग्रथकारों का परिचय इँगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों में लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। सवत् १९५७ (नवबर सन् १८९५) में वे रीआ घास (जिसके रेशों से अच्छे कपड़े बनते थे) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भर से कुछ ऊपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ में उनका देहात (७ फरवरी १८९६) हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला।

सवत् १९१९ में जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुतला नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उसका एक बहुत सु दर परिचय उन्होंने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूप रग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अँगरेज़ी लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जो उन्होंने बा० अयोध्याप्रसाद खत्री के "खड़ी बोली का पद्य" की भूमिका के रूप में लिखा था। देखिए, उसमें वे क्या कहते हैं—

"फारसी मिश्रित हिंदी (अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिये विवश किए जाते हैं।"

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्यपुस्तक 'गुटका' में भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना' 'रानी केतकी की कहानी' के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह के 'शकुंतला नाटक' का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् १९२४ में प्रकाशित हुआ था।

संवत् १९१९ और १९२४ के बीच कई संवादपत्र हिंदी में निकले। 'प्रजाहितैषी' का उल्लेख हो चुका है। संवत् १९२ में 'लोकमित्र' नाम का एक पत्र ईसाई धर्म प्रचार के लिये आगरे (सिकंदरे) से निकलता था जिसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। लखनऊ से जो 'अवध अखबार' (उर्दू) निकलता था उसके कुछ भाग में हिंदी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय कर रहे थे। संवत् १९२ और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न भिन्न विषयों की बहुत सी हिंदी-पुस्तकें तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स में रहीं। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करनेवालों में ये मुख्य थे। शिक्षा-प्रचार के साथ साथ समाज सुधार आदि के उद्योग में भी ये बराबर रहा करते थे। ईसाइयों के प्रभाव को रोकने के लिये जिस प्रकार बंगाल में ब्रह्म-समाज की स्थापना हुई थी और राजा राममोहन राय ने हिंदी के द्वारा भी उसके प्रचार की व्यवस्था की थी इसका उल्लेख पहले हो चुका है*। नवीनबाबू ने ब्रह्म-समाज के सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से समय समय पर कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। संवत्

---

* देखो पृ० ४६५।

१६२४ (मार्च सन् १८६७) में उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' निकली जिसमें शिक्षा म थी तथा साधारण ज्ञान-विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा-विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिंदी-गद्य था। हिंदी को उर्दू के झमेले में पड़ने से ये सदा बचाते रहे।

हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें उर्दू के पक्ष-पातियों से उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को। विद्या की उन्नति के लिये लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित थी। संवत् १९२३ के उसके एक अधिवेशन में किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान दे कर उर्दू को ही देश में प्रचलित होने के योग्य कहा। उस सभा की दूसरी बैठक में नवीन बाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का पूरा खंडन करते हुए कहा—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छंदोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिंदुओं का यह कर्तव्य है कि वे अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।"

नवीन बाबू के इस व्याख्यान की खबर पाकर इसलामी तहज़ीब के पुराने हामी, हिंदी के पक्के दुश्मन गार्सां द तासी फ्रांस में बैठे बैठे बहुत झल्लाए और अपने एक प्रवचन में उन्होंने बड़े जोश के साथ हिंदी का विरोध और उर्दू का पक्ष-मंडन किया तथा नवीन बाबू को कट्टर हिंदू कहा। अब यह फरासीसी हिंदी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार

मिटाना चाहा और बीम्स साहब (M Beames) का सहारा लेते हुए यह जताया कि हिंदी तो एक पुरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी, आर्यों ने आकर उसका नाश किया और जो बचे-खुचे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार जब जहाँ कहीं हिंदी का नाम लिया जाता तब तासी बड़े बुरे ढंग से विरोध में कुछ न कुछ इसी तरह की बातें करता।

सर सैयद अहमद का अँगरेज़ अधिकारियों पर कितना प्रभाव था यह पहले कहा जा चुका है। संवत् १९२५ में इस प्रांत के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष हैवेल (M S Havell) साहब ने अपनी यह राय ज़ाहिर की कि—

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

इस राय को गार्सां द तासी ने बड़ी खुशी के साथ अपने प्रवचन में शामिल किया। इसी प्रकार इलाहाबाद इंस्टिट्यूट (Allahabad Institute) के एक अधिवेशन में (सं० १९२५) जब यह विवाद हुआ था कि 'देसी ज़बान' हिंदी को मानें या उर्दू को, तब हिंदी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का फल यह हुआ है कि अधिकांश जनता—विशेषतः गाँवों की—जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित है बहुत कष्ट उठाती है, इससे हिंदी का जारी होना बहुत आवश्यक है। बोलनेवालों में से किसी किसी ने कहा कि बेशक अक्षर नागरी के रहें और कुछ लोगों ने कहा कि भाषा भी बदल कर सीधी सादी की जाय। इस पर भी गार्सां द तासी ने हिंदी के पक्ष में बोलनेवालों का उपहास किया था।

उसी काल में इंडियन डेली न्यूज़ (Indian Daily News) के एक लेख में हिंदी प्रचलित किए जाने की आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने वाली साहब खड़े हुए थे। 'अवध-अख़बार' में जब एक बार हिंदी के पक्ष में लेख छपा था तब भी उन्होंने उसके संपादक की राय का जिक्र करते हुए हिंदी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने में सुडौल नहीं लगते।

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये मत-मतांतर संबंधी आंदोलन देश के पश्चिमी भागों में भी चल पड़े। पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिंचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् १९२० से उन्होंने अनेक नगरों में घूम घूमकर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा में ही होते थे। स्वामीजी ने अपना 'सत्यार्थ प्रकाश'' तो हिंदी या आर्य्य-भाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों में किए। स्वामीजी के अनुयायी हिंदी को "आर्य्यभाषा" कहते थे। स्वामीजी ने संवत् १९३२ में आर्य्यसमाज की स्थापना की और सब आर्य्यसमाजियों के लिये हिंदी या आर्य्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य्य समाज के प्रभाव से हिंदी-गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क से पंजाबवालों की लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब में हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है।

संवत् १९१० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। जलंधर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों

के प्रभाव से कपूरथला-नरेश महाराज रणधीरसिंह ईसाई मत की ओर झुक रहे थे। पंडित श्रद्धारामजी तुरंत संवत् १९२० में कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रमधर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों में घूम कर पंडित श्रद्धारामजी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिये बहुत दूर दूर से लोग आते और सहस्रों आदमियों की भीड़ लगती थी। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत ज़ोरदार होती थी। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्म सभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिंदी में ही लिखी हैं। अपना सिद्धांत-ग्रंथ "सत्यामृतप्रवाह" उन्होंने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेद-शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी ऐसी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थीं और कुछ लोग उन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे, सारे पंजाब के हिंदू उन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धारामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिंदी-गद्य में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार में बराबर लगे रहे। संवत् १९२४ में उन्होंने "आत्म-चिकित्सा" नाम की एक अध्यात्म-संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् १९२८ में हिंदी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक' 'धर्मरक्षा' 'उपदेश-संग्रह' (व्याख्यानों का संग्रह) 'शतोपदेश'

(दोहे) इत्यादि धर्म-संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित (१४०० पृष्ठ के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। 'भाग्यवती" नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के वे एक सच्चे हिंदी-हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत् १९३८ में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद "आम फ़हम" और "ख़ास पसंद" भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावत जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अत गद्य के नवीन विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिंदी-गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंध-सूत्र को त्यागकर दूसरी देश-भाषाओं से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी? उनकी सगी बहिन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी? जब कि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप की भिन्न भिन्न [illegible] भाषाओं के बीच एक

प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य्य-भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंध-सूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

कुछ अँगरेज़ विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिये किसी अँगरेज़ी वाक्य में उसी भाषा में लैटिन के शब्द भर कर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अँगरेज़ी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है पर हिंदी बँगला मराठी गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृत रूपों से निकली हैं। इन आर्य्यभाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत-साहित्य की परंपरा का विस्तार कह सकते हैं। देश-भाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और भावों की इस धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी ?

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

प्रथम उत्थान

(संवत् १९२५—१९५०)

सामान्य परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी-गद्य के प्रवर्त्तक माने गए। मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य-विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोल-चाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद्य की ब्रज-भाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्य-भाषा में भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफ़ाई लाए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाज-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति शृंगार आदि की पुराने ढँग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच बीच में कुछ शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढँग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।

उर्दू के कारण अब तक हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिये खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर जब साहित्य की रचना परिमाण में हो लेती है तभी रीतियों का भेद, लेखकों की

व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवन काल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेंदु में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की दूसरी। भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है जो चिंतन का अवकाश भी बीच बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर होती है, वाक्य भी कुछ लंबे होते हैं, पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्य-निरूपण या सिद्धांत कथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तु वर्णन या दृश्य-वर्णन में विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्णवाले संस्कृत शब्दों की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल सी चली आई है। भारतेंदु में यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छंद गति से, बोलचाल की चपलता और भावभंगी लिए चलती है। हास्य-विनोद की उमंग में वह कभी कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती, पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार छोड़ती भी चलती है। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के लेखों में गद्य-काव्य के पुराने ढंग

की झलक रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत से वाक्य-खंडों की लड़ियों से गुथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते थे—इतने लंबे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास में तथा कहीं कहीं वाक्य के बीच विराम-स्थलों पर भी, अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो 'प्रेमघन' में पुरानी परंपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी होती थी जैसी खरी खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन और पुरातन का वह संघर्ष-काल था, इससे भट्टजी को चिढ़ाने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल पुराने बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है पर उसमें लंबे लंबे वाक्यों की वह जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंग स्थलियों को मार्मिक रूप से हृदय में जमानेवाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।

हरिश्चंद्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे ही शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं उनका प्रयोग वे बहुत औसर में पड़कर ही करते थे।

उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न 'औदार्य्य', 'सौकर्य्य' और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।

भारतेंदु के समय में ही देश के कोने कोने में हिंदी लेखक तैयार हुए जो उनके निधन के उपरांत भी बराबर साहित्य-सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषय क्षेत्र के अनुकूल रूप हिंदी को देने में सबका हाथ रहा। धर्म संबंधी विषयों पर लिखनेवालों (जैसे, पं० अंबिकादत्त व्यास) ने शास्त्रीय विषयों को व्यक्त करने में, संवादपत्रों ने राजनीतिक बातों को सफाई के साथ सामने रखने में हिंदी को लगाया। सारांश यह कि उस काल में हिंदी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।

यहाँ तक तो भाषा और शैली की बात हुई। अब लेखकों का दृष्टि-क्षेत्र और उनका मानसिक अवस्थान लीजिए। हरिश्चंद्र तथा उनके सम सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंद दिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी या बहुत पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले पर झंझटों से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग नहीं पाई जाती जो हरिश्चंद्रमंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है। शिक्षित समाज में संचरित भावों को भारतेंदु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न भिन्न ऋतुओं में पड़नेवाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते थे, परंपरा से चले आते हुए आमोद-प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी

बूझ नहीं फैलती थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुन्दर ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधि-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु से पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनंदरघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर नाटक' का बँगला से सुंदर हिंदी में अनुवाद करके संवत् १९२५ में प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे पर वह पूरा न हुआ। उन्होंने आगे चलकर भी अधिकतर नाटक ही लिखे। पं० प्रतापनारायण और बदरीनारायण चौधरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की यह परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बा० रामकृष्ण वर्मा बंगभाषा के नाटकों का—जैसे वीर नारी, पद्मावती, कृष्णकुमारी—अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिन दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता है। नाटक दृश्य काव्य है। उसका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित रहता है। उस समय नाटक खेलनेवाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं वे उर्दू

छोड़ हिंदी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी-प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था?

भारतेंदुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबंध किया करते थे और कभी कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेंदुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण-सिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के इंडियन मेल (Indian Mail) में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिये मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।

'काश्मीरकुसुम' (राजतरंगिणी का कुछ अंश) और 'बादशाह-दर्पण' लिखकर इतिहास की पुस्तकों की ओर और जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनचरित की पुस्तकों की ओर भी हरिश्चंद्र ध्यान ले गए पर उस समय इन विषयों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी।

पुस्तक-रचना के अतिरिक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक प्रकार के फुटकल लेख और निबंध अनेक विषयों पर मिलते हैं, जैसे, राजनीति, समाजदशा, देशदशा, ऋतु-छटा, पर्व-त्योहार, जीवनचरित, ऐतिहासिक प्रसंग, जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषय (जैसे, आत्मनिर्भरता, मनोयोग, कल्पना)। लेखों और निबंधों की अनेकरूपता को देखते उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। समाजदशा और देशदशा संबंधी लेख कुछ विचारात्मक पर अधिकांश में भावात्मक मिलेंगे। जीवन-चरितों और ऐतिहासिक प्रसंगों में इतिवृत्त के साथ भावव्यंजना भी गुंफित पाई जायगी। ऋतु-छटा और पर्व-त्योहारों पर अलंकृत भाषा में वर्णनात्मक प्रबंध सामने आते हैं। जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य

विषयों के निरूपण में विरल विचार-खंड कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत सब लेखकों में पाई जाएँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्य-विनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के आलंबन दोनों पक्षों में मिलते थे। जिस प्रकार बात बात में बाप-दादों की दुहाई देनेवाले धर्म के आडंबर की आड़ में दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे उसी प्रकार पच्छिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी।

नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था। अंगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिये उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय में ही प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किए। तदनंतर बा० गदाधरसिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँगला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा० राधाकृष्णदास, बा० कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह

बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्व-सामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान के अंत होते होते तो अनूदित उपन्यासों का ताँता बँध गया। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था। अधिकांश अनुवादक प्राय भाषा को ठीक हिंदी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे—जैसे, "काँदना", "सिहरना", "धू धू करके आग जलना", "छल छल आँसू गिरना" इत्यादि। इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

हिंदी-गद्य की सर्वतोमुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पचीसों पत्र-पत्रिकाएँ हरिश्चंद्र के ही जीवन काल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१ अलमोड़ा अखबार (संवत् १९२८, संपादक पं० सदानंद सलवाल)

२ हिंदी दीप्ति-प्रकाश (कलकत्ता, १९२९; सं० कार्तिक प्रसाद खत्री)

३ बिहार-बंधु (१९२९, केशवराम भट्ट)

४ सदादर्श (दिल्ली १९३१, ला० श्रीनिवास दास)

५ काशी-पत्रिका (१९३३, बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए०, शिक्षा-संबंधी मासिक)

६ भारत-बंधु (१९३३, तोताराम, अलीगढ)।

७ भारत मित्र (कलकत्ता सं० १९३४, रुद्रदत्त)

८ मित्र-विलास (लाहौर १९३४, कन्हैयालाल)

९ हिंदी-प्रदीप (प्रयाग १९३४, पं० बालकृष्ण भट्ट, मासिक)

विषयों के निरूपण में विरल विचार-धारा और कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत सब लेखकों में पाई जायँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्य-विनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के आलंबन दोनों पक्षों में मिलते थे। जिस प्रकार बात बात में बाप-दादों की दुहाई देनेवाले, धर्म के आडंबर की आड़ में दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे उसी प्रकार पच्छिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी।

नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था। अँगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिये उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय में ही प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किए। तदनंतर बा० गदाधरसिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँगला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा० राधाकृष्णदास, बा० कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह

बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्व-सामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान के अंत होते होते तो अनूदित उपन्यासों का ताँता बँध गया। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था। अधिकांश अनुवादक प्राय भाषा को ठीक हिंदी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे—जैसे, "काँदना", "सिहरना", "धू धू करके आग जलना", "छल छल आँसू गिरना" इत्यादि। इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

हिंदी गद्य की सर्वतोमुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पचीसों पत्र-पत्रिकाएँ हरिश्चद्र के ही जीवन काल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१ अलमोड़ा अखबार (सवत् १९२८, सपादक प० सदानद सलवाल)

२ हिंदी दीप्ति-प्रकाश (कलकत्ता, १९२९, स० कार्तिक-प्रसाद खत्री)

३ बिहार-बधु (१९२९, केशवराम भट्ट)

४ सदादर्श (दिल्ली १९३१, ला० श्रीनिवास दास)

५ काशी-पत्रिका (१९३३, बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए०, शिक्षा-सबधी मासिक)

६ भारत-बधु (१९३३, तोताराम, अलीगढ)।

७ भारत मित्र (कलकत्ता स० १९३४, रुद्रदत्त)

८ मित्र-विलास (लाहौर १९३४, कन्हैयालाल)

९ हिंदी-प्रदीप (प्रयाग १९३४, प० बालकृष्ण भट्ट, मासिक)

१० आर्य-दर्पण (शाहजहाँपुर १९३४ ई० बख्तावर सिंह)
११ सार-सुधानिधि (कलकत्ता १९३५; सदानंद मिश्र)
१२ उचितवक्ता (कलकत्ता १९३५; दुर्गाप्रसाद मिश्र)
१३ सज्जन-कीर्ति-सुधाकर (उदयपुर १९३६; वंशीधर)
१४ भारत सुदशाप्रवर्त्तक (फर्रुखाबाद १९३६; गणेशप्रसाद)
१५ आनंद-कादंबिनी (मिरजापुर १९३८; उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी; मासिक)
१६ देश-हितैषी (अजमेर १९३९)
१७ दिनकर प्रकाश (लखनऊ १९४ ; रामदास वर्मा)
१८ धर्म-दिवाकर (कलकत्ता १९४ ; देवीसहाय)
१९ प्रयाग-समाचार (१९४ देवकीनंदन त्रिपाठी)
२ ब्राह्मण (कानपुर १९४ ; प्रतापनारायण मिश्र)।
२१ शुभचिंतक (जबलपुर १९४ ; सीताराम)
२२ सदाचार-मार्त्तंड (जयपुर १९४ ; लालचंद शास्त्री)
२३ हिंदोस्थान (इँगलैंड १९४ ; राजा रामपालसिंह, दैनिक)
२४ पीयूष-प्रवाह (काशी १९४१; अंबिकादत्त व्यास)
२५ भारत-जीवन (काशी १९४१ रामकृष्ण वर्मा)
२६ भारतेंदु (वृंदावन १९४१; राधाचरण गोस्वामी)
२ कविकुलकंज-दिवाकर (बस्ती १९४१ रामनाथ शुक्ल)

इनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गईं, पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-साधन और हिंदी की सेवा की है जैसे—बिहारबंधु भारतमित्र भारत-जीवन उचितवक्ता दैनिक हिंदोस्थान आर्यदर्पण ब्राह्मण हिंदी-प्रदीप। 'मित्र-विलास' सनातनधर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब में हिंदी प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप' और 'आनंद-कादंबिनी' साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत सुंदर मौलिक गद्य-प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। इन

पत्र पत्रिकाओं को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिंदी प्रदीप' को कई बार बंद होना पड़ा था। 'ब्राह्मण' संपादक पं० प्रतापनारायण मिश्र को ग्राहकों से चंदा माँगते माँगते थक कर कभी कभी पत्र में इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी—

आठ मास बीते, जजमान!
अब तो करो दच्छिना दान॥

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने हिंदी संवादपत्रों के प्रचार के लिये बहुत उद्योग किया था। उन्होंने संवत् १९२८ में "हिंदी-दीप्ति-प्रकाश" नाम का एक संवादपत्र और "प्रेम विलासिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी-संवादपत्र पढ़नेवाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिये बाबू कार्तिक-प्रसाद ने बहुत दौड़धूप की थी। लोगों के घर जा जाकर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़े दिन चलकर बंद हो गया। संवत् १९३४ तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अतः संवत् १९३४ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र और बाबू जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में "भारतमित्र कमेटी" बनी और "भारतमित्र" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला जो बहुत दिनों तक हिंदी संवादपत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा। प्रारंभ काल में जब पंडित छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदुजी भी कभी कभी इसमें लेख दिया करते थे।

उसी संवत् में लाहौर से "मित्र-विलास" नामक पत्र पंडित गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब में कोई हिंदी का पत्र न था। केवल "ज्ञानप्रदायिनी" नाम की एक पत्रिका उर्दू-हिंदी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमें शिक्षा और सुधार-

संबंधी लेखों के अतिरिक्त आंदोलन की बातें रहा करती थीं। उसके पीछे जो "हिंदू-बांधव" निकला उसमें भी उर्दू और हिंदी दोनों रहती थीं। केवल हिंदी का एक भी पत्र न था। 'कवि-वचन-सुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पंडित गोपीनाथ ने 'मित्र-विलास' निकाला था जिसकी भाषा बहुत सुष्ठु और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में इस पत्र ने शोक-प्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् १९३५ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादन में "उचितवक्ता" और पंडित सदानंद मिश्र के संपादन में 'सार सुधानिधि' ये दो पत्र कलकत्ते से निकले। इन दोनों महाशयों ने बड़े समय पर हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया था पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देशभक्त राजा रामपालसिंहजी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिये खड़े हुए और संवत् १९४ में उन्होंने 'हिंदोस्थान नामक पत्र इंग्लैंड से निकाला जिसमें हिंदी और अँगरेजी दोनों रहती थी। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत् १९४२ में यह हिंदी दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देशपूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं। बाबू हरिश्चंद्र के जीवनकाल में ही अर्थात् मार्च सन् १८८४ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्मा ने काशी से 'भारत-जीवन' पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदुजी ने ही किया था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म काशी के एक संपन्न वैश्य-कुल में भाद्र शुक्ल ५ सं० १९ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में … कृष्ण ६ सं० १९४१ को हुई।

संवत् १९२२ में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गए। उसी यात्रा में उनका परिचय बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बँगला में नए ढंग के सामाजिक, देश देशांतर-संबंधी, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया। संवत् १९२५ में उन्होंने 'विद्या सुंदर नाटक' बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इस अनुवाद में ही उन्होंने हिंदी-गद्य के बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया। इसी वर्ष उन्होंने "कविवचनसुधा" नाम की एक पत्रिका निकाली जिसमें पहले पुराने कवियों की कविताएँ छपा करती थीं पर पीछे गद्य लेख भी रहने लगे। संवत् १९३० में उन्होंने "हरिश्चंद्र मैगज़ीन" नाम की मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरांत "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" हो गया। हिंदीगद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी "चंद्रिका" में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने "कालचक्र" नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिंदी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०"।

इस "हरिश्चंद्री हिंदी" के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' में भारतेंदुजी आप तो लिखते ही थे, बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह दे देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चंद्र के संपादन कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बड़ी तेजी के साथ वे चंद्रिका के लिये लेख और नोट लिखते और मैटर को बड़े ढंग से सजाते थे। हिंदी गद्य-साहित्य के इस आरंभ-काल में ध्यान देने की बात यह है कि उस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे उनमें विदग्धता और मौलिकता थी

और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचाननेवाले थे। बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेजी के अनुवाद का वह तूफान जो पचीस तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही एक बार में पलट गया था उस समय नहीं था। उस समय ऐसे लेखक न थे जो बँगला की पदावली और वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अँगरेजी वाक्यों और मुहावरों का शब्द प्रति शब्द अनुवाद करके हिंदी लिखने का दावा करते हों। उस समय की हिंदी में न 'दिक् दिक् अशांति' थी न 'कांदना सिहरना और छल छल अश्रुपात'; न 'जीवन-होड़' और 'कवि का संदेश' था न "भाग लेना और स्वार्थ लेना'।

मैगजीन में प्रकाशित हरिश्चंद्र का "पाँचवें पैगंबर" मुंशी ज्वालाप्रसाद का 'कलिराज की सभा' बाबू तोताराम का "अद्भुत अपूर्व स्वप्न" बाबू कार्त्तिकप्रसाद का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख बहुत दिनों तक लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। संवत् १९३१ में भारतेंदुजी ने स्त्रीशिक्षा के लिये "बालाबोधिनी" निकाली थी। इस प्रकार उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकालीं। इसके पहले ही संवत् १९३० में उन्होंने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का प्रहसन लिखा जिसमें धर्म और उपासना के नाम से समाज में प्रचलित अनेक अनाचारों का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फिक्र में रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम में मतवाले देशहित की चिंता में व्यग्र हरिश्चंद्रजी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते हैं।

गद्य-रचना के अंतर्गत भारतेंदु का ध्यान पहले नाटकों की ओर ही गया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि हिंदी में मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे

गए थे—महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद-रघुनंदन-नाटक" और बाबू गोपालचंद का "नहुष नाटक"। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेंदु-प्रणीत नाटक ये हैं—

(मौलिक)

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती-प्रताप (अधूरा)।

(अनुवाद)

विद्यासुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र, भारतजननी।

'सत्य हरिश्चंद्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला-नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का किया हुआ बंगभाषा में लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।

भारतेंदु के नाटकों में सब से पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के एक हिंदू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लाई गई है। 'विषस्य विषमौषधम्' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिये रचा गया है। 'प्रेमजोगिनी' में भारतेंदु ने वर्त्तमान पाखंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।

नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका-स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं कहीं कर देते थे।

यद्यपि सब से अधिक रचना उन्होंने नाटकों ही की की, पर हिंदी-साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीरकुसुम' 'बादशाहदर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे पर चल बसे। वे सिद्ध वाणी के अत्यंत सरसहृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार-रस के ऐसे रसपूर्ण और मार्मिक कवित्त सवैए निकले कि उनके जीवन-काल में ही चारों ओर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम से भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकने लगीं।

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन

नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।

हरिश्चंद्र के जीवन-काल में ही लेखकों और कवियों का एक ख़ासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिंदी-साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया था। भारतेंदु का अस्त तो संवत् १९४१ में ही हो गया पर उनका यह मंडल बहुत दिनों तक साहित्य निर्माण करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे। जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी। भारतेंदुजी में हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में प्रायः वाक्य बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोल-चाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित साधारण फ़ारसी-अरबी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। 'चंद्रावली नाटिका' से उद्धृत यह अंश देखिए—

"झूठे, झूठे झूठे! झूठे ही नहीं विश्वासघातक। क्यों इतना छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें पर वाह रे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज

की दशा भी नहीं जाती। हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मचलते मचलते चले क्यों न जाकर लिए फँसते? भले ये कैसे बेदरद मिले। दुखी देखना है?"

जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना है और चिंतन के लिये कुछ अवकाश है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं पर अन्वय जटिल नहीं है जैसे 'प्रेमयोगिनी' में सूत्रधार के इस भाषण में—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों का एकमात्र जीवनदाता हरिश्चन्द्र ही दुखी हो? (नेत्र में जल भरकर) हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। × × × मित्र! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक बहिष्कृत होकर इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"

तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय कभी कभी उनकी भाषा में संस्कृत-पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है। इसका सब से बड़ा भारी उदाहरण 'नीलदेवी' के वक्तव्य में मिलता है। देखिए—

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।"

पर यह भारतेंदु की असली भाषा नहीं। उनकी असली भाषा का रूप पहले दो अवतरणों में ही समझना चाहिए। भाषा चाहे जिस ढँग की हो उनके वाक्यों का अन्वय सरल होता है, उसमें जटिलता नहीं होती। उनके लेखों में भावों की मार्मिकता पाई जाती है, वाग्वैचित्र्य या चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने समय के सब लेखकों में भारतेंदु की भाषा साफ़ सुथरी और व्यवस्थित होती थी। उसमें शब्दों के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते हैं और वाक्य भी सुसंबद्ध पाए जाते हैं। 'प्रेमघन' आदि और लेखकों की भाषा में हम क्रमश उन्नति और सुधार पाते हैं। सं० १९२८ की 'आनदकादंबिनी' का कोई लेख लेकर २० वर्ष पश्चात् के किसी लेख से मिलान किया जाय तो बहुत अंतर दिखाई पड़ेगा। भारतेंदु के लेखों में इतना अंतर नहीं पाया जाता। 'इच्छा किया', 'आशा किया' ऐसे व्याकरण विरुद्ध प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गए थे जहाँ प्रतापनारायणजी का जन्म सं० १९१३ में और मृत्यु सं० १९५१ में हुई। ये इतने मनमौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवा करते थे। कभी लावनी-बाजों में जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलों और तमाशों में बन्द इक्के पर बैठे जाते दिखाई देते थे।

प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखन कला में भारतेंदु को ही आदर्श मानते थे पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है। प्रतापनारायणजी में विनोदप्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्राय रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ...

बेधड़क रख दिया करते थे। कैसा ही विषय हो, वे उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। अपना 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्यप्रबंध लिखने के लिये ही निकाला था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्रजी की लेखनी चलती थी। शीर्षकों के नामों से ही विषयों की अनेकरूपता का पता चलेगा जैसे "घूरे क लत्ता बिनैं कनातन क डौल बाँधैं" 'समझदार की मौत है' 'आप' "मनोयोग" "बृद्ध" "भौं"। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर ही अधिक रहती थी पर जब कभी कुछ गंभीर विषयों पर वे लिखते थे तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनों प्रकार की लिखावटों के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

'समझदार की मौत है'

सच है "सब तें भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगतगति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथि-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंत-मेंत में धरम-मूरत धरम-औतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै! आफत तो बेचारे जिंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिस्तथान्यभाषा-रसलोलुपोऽहम्"। अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है, अब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सब में मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही

उत्तमता के साथ होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य्य भी हों किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्चा ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।"

प्रतापनारायणजी ने फुटकल गद्यप्रबंधों के अतिरिक्त कई नाटक भी लिखे। 'कलिकौतुक रूपक' में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने का संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढंग पर गाने योग्य खड़ी बोली में पद्यबद्ध शकुंतला नाटक है। भारतेंदु के अनुकरण पर मिश्रजी ने 'भारतदुर्दशा' नाम का नाटक भी लिखा था। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्त लेकर लिखा गया है। 'गोसंकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सं० १९०१ में और परलोकवास सं० १९७१ में हुआ। वे प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला-कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे।

उन्होंने संवत् १९३३ में अपना "हिंदी प्रदीप" गद्य-साहित्य का ढर्रा निकालने के लिये ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे छोटे गद्यप्रबंध वे अपने पत्र में तीस-बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। उनके लिखने का ढँग पंडित प्रतापनारायण के ढँग से मिलता जुलता है। मिश्र जी के समान भट्टजी भी स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग करने

थे पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है। व्यंग्य और वक्रता उनके लेखों में भी भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े बड़े होते हैं। ठीक बोली के व्याकरण का निर्वाह भट्टजी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" वे प्रायः लिख जाते थे। उनके लिखने के ढंग से यह जान पड़ता है कि वे अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवशिक्षित लोगों को हिंदी की ओर आकर्षित करने के लिये लिख रहे हैं। स्थान स्थान पर ब्रैकेट में दिये 'Education," "Society" "National vigour and strength," "Standard" 'Character" इत्यादि अँगरेजी शब्द पाए जाते हैं। इसी प्रकार फारसी-अरबी के लम्बे ही नहीं बड़े बड़े फिकरे तक भट्टजी अपनी मौज में आकर रखा करते थे। इस प्रकार उनकी शैली में एक निरालापन झलकता है। प्रतापनारायण के हास्यविनोद से भट्टजी के हास्यविनोद में यह विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिड़ाहट लिए रहता था। पदविन्यास भी कभी कभी उनका बहुत ही चोखा और अनूठा होता था।

अनेक प्रकार के गद्य-प्रबन्ध भट्टजी ने लिखे हैं पर सब छोटे छोटे। वे बराबर कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े बड़े लेख लिख डालते हैं। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। "आँख" "कान" "नाक" आदि शीर्षक देकर उन्होंने कई लेखों में बड़े ढंग के साथ मुहावरों की झड़ी बाँध दी है। एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा "भैया ! आँख में क्या हुआ है ?" उत्तर मिला "आँख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया ! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना बैठना सब बुरा है।" अनेक विषयों पर गद्य-प्रबन्ध लिखने के अतिरिक्त "हिंदी-प्रदीप" द्वारा भट्टजी संस्कृत-साहित्य और संस्कृत

के कवियों का परिचय भी अपने पाठकों को समय समय पर कराते रहे। पडित प्रतापनारायण मिश्र और पडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अँगरेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था। भट्टजी की लिखावट के दो नमूने देखिए—

"कल्पना

× × × यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गये। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड गये। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह सपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभगुर है, अतएव हेय है।

आत्म निर्भरता

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेज़ी राज्य के अमनचैन का फ़ायदा पाय हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहिले से ड्योढी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढाने लगे। हमारे देश की जन सख्या अवश्य घटनी चाहिए। × × × × आत्म निर्भरता में दृढ, अपने कूवते-बाज़ू पर भरोसा रखनेवाला, पुष्टवीर्य, पुष्ट बल, भाग्यवान् एक सतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के?"

निबधों के अतिरिक्त भट्टजी ने कई छोटे-मोटे नाटक भी लिखे हैं जो क्रमश उनके हिदी-प्रदीप में छपे हैं, जैसे—कलिराज की सभा,

देश का मिलन वेश्या विवाह नाटक चंद्रसेन नाटक। इन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक बंगभाषा के दो नाटकों के अनुवाद भी निकाले थे।

सं० १९४१ में भट्टजी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की 'सच्ची समालोचना' की, और पत्रों में उसकी प्रशंसा ही प्रशंसा देखकर, की थी। उसी वर्ष उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी ने बहुत ही विस्तृत समालोचना अपनी पत्रिका में निकाली थी। इस दृष्टि से सम्यक् आलोचना का हिंदी में सूत्रपात करनेवाले इन्हीं दो लेखकों को समझना चाहिए।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी का जन्म मिर्जापुर के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-वंश में भाद्र कृष्ण ६ सं० १९१२ को और मृत्यु फाल्गुन शुक्ल १४ सं० १९७९ को हुई। उनकी हर एक बात से रईसी टपकती थी। बातचीत का ढंग उनका बहुत ही निराला और अनूठा था। कभी कभी बहुत ही सुंदर वक्रता-पूर्ण वाक्य उनके मुँह से निकलते थे। लेखन-कला के उनके सिद्धांत के कारण उनके लेखों में वह विशेषता नहीं पाई जाती। वे भारतेंदु के घनिष्ठ मित्रों में थे और वेश भी उन्हीं का-सा रखते थे।

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लंबे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। वे कोई लेख लिखकर जब तक उसका कई बार परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने

नहीं देते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे पर लिखने में उनके "उतावलेपन" की शिकायत अक्सर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुंदर हो जाता। एक बार उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिखकर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसे यों कर दीजिए—"दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ के आडंबर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थगर्भित और सूक्ष्म विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था।

चौधरी साहब ने कई नाटक लिखे हैं। 'भारत-सौभाग्य' कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिये सन् १८८८ में लिखा गया था। यह नाटक विलक्षण है। पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए। भाषा भी रंग बिरंगी है—पात्रों के अनुरूप उर्दू, मारवाड़ी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, बंगाली सब कुछ मिलेगी। नाटक की कथावस्तु है वद-एकबाल हिंद की प्रेरणा से सन् १८५७ का ग़दर, अँगरेजों के अधिकार की पुनःप्रतिष्ठा और नेशनल कांग्रेस की स्थापना। नाटक के आरंभ के दृश्यों में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का भारत से प्रस्थान भारतेंदु के "पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी" से अधिक काव्योचित और मार्मिक है।

'प्रयाग रामागमन' नाटक में राम का भरद्वाज आश्रम में पहुँच कर आतिथ्य ग्रहण है। इसमें सीता की भाषा ब्रज रखी गई है। 'वारांगना-रहस्य महानाटक (अथवा वेश्याविनोद महा-